

स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास की विसंगतियाँ और वीरेन्द्र जैन के उपन्यास



निर्देशक :

प्रो० मुफ़्ख़र एहतिशाम जुबैरी

एम०ए०, पी-एच०डी०

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

शोधार्थी:

राजेश कुमार

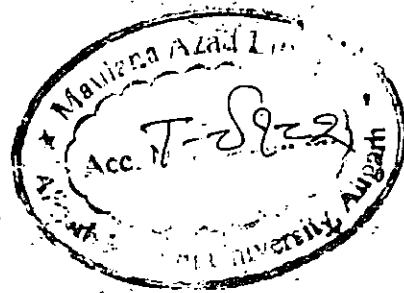
एम०ए०, एम०फिल०

हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़ (भारत)

THESIS



शोध-सार

साहित्य जीवन तथा विश्व की आलोचना है। साहित्य के निकष पर खरी उतरने वाली विधा उपन्यास है। इस विधा ने मनुष्य जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है तथा यह मानव जीवन की अनेक परिस्थितियों को समेटते हुए चलती है। इसमें विश्व के समस्त क्रिया-कलाप और मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और नैतिक आदि समस्याओं का विशाल एवं सशक्त चित्रण देखा जा सकता है। यही कारण है कि इसको आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक सर्वाधिक लोकप्रिय विधा के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रस्तुत शोध विषय — 'स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास की विसंगतियाँ और वीरेन्द्र जैन के उपन्यास' का चयन इस चिन्ता में किया गया था कि स्वातंत्र्योत्तर भारत का विकास आज़ादी की लड़ाई के वैचारिक स्वप्नों से कहीं दूर खिसक गया है और इस तरह की फिसलन का प्रतिनिधित्व वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य कर रहा है। उपन्यासों, कहानियों, कविता और आलोचना पद्धति के निर्धारण में यह फिसलन महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। यह विषय एक व्यापक फलक की निर्मिति था जिसे शोध विषय की मर्यादा के अधीन होकर केवल वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों तक सीमित रखा गया।

प्रस्तुत शोध प्रबंध की विषय सामग्री को षष्ठ अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के सभी अध्यायों का यहाँ संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

THESIS

इस शोध की पहली समस्या थी विकास के स्वरूप और विसंगतियों की स्थिति की समझ को प्रस्तुत करना। प्रथम अध्याय – “विकास और विसंगति : अवधारणा और आयाम” शीर्षक से है। इस अध्याय में विकास की अवधारणा और आयाम तथा विसंगति की अवधारणा और उसके विविध आयाम मुख्य बिन्दु हैं। कार्ल मार्क्स, एमिल दुर्खीम, मर्टन, पारसंस आदि के विकास और विसंगति की अवधारणा सम्बन्धी पश्चिमी विचारों के परिप्रेक्ष्य में इस अध्याय को पूरा करने का प्रयास किया गया है। ‘विकास की अवधारणा’ के अन्तर्गत परम्परागत भारतीय अवधारणा, नियतिवादी अवधारणा, डार्विन की विकासवादी अवधारणा, पूँजीवादी अवधारणा, मार्क्सवादी अवधारणा और गाँधीवादी अवधारणा आदि बिन्दु शामिल हैं। ‘विकास की अवधारणा’ को स्पष्ट करते हुए यह दिखाया गया है कि राज्य सत्ता का चरित्र भारत में आरम्भ से ही एक खास वर्ग से जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात् भी जो नीतियाँ आती हैं: उसका भी परिणाम यही होता है। इस अध्याय में पूँजीवादी विकास नीति के तहत यह दिखाया गया है कि यह किस प्रकार ‘गलाकाट प्रतियोगिता’ को जन्म देती है और एक बहुत बड़ा वर्ग इस प्रतियोगिता से या तो अछूता रहता है, या फिर इसका शिकार होता है। पुनः मार्क्सवादी विकास नीति के तहत यह दिखाने की कोशिश की है कि संघर्ष के दौरान जब सामूहिक नीति बनती है तो उसमें विसंगति कम होती है। यही कारण है कि 1929-33 में जब पूरा विश्व आर्थिक मंदी से गुज़र रहा होता है तो समाजवादी राज्य सोवियत संघ दो अंकों में वृद्धि कर रहा होता है। गाँधी जी ने लघु एवं कुटीर उद्योग तथा बड़े उद्योगों की जो रूपरेखा रखी थी, उसका भी विश्लेषण किया गया है।

इस अध्याय में विकास और विसंगति दो अवधारणाओं में पारिभाषिक और व्यावहारिक ढाँचे पर विभिन्न मतों की परख की और पाया कि विकास की अवधारणा देश के निर्दिष्ट उत्थान को सम्प्रेषित करती है जिसका निर्देशन राज्य की विभिन्न नीतियों के तहत होता है। संविधान के निर्माण से लेकर अब तक इस निर्देशन में बहुत से पहलू हमारे समक्ष आते हैं उनसे देश के विकास का वर्तमान स्वरूप निर्धारित हुआ है।

भारत के संविधान की मूल संकल्पना इस बात के लिए बाध्य करती है कि राज्य का विकास कल्याणकारी स्वरूप पर होगा जिसका उत्तरदायित्व विकास के ऐसे स्वरूप को स्वीकार करना होगा जो जनता के कल्याण को सर्वोपरि रखे। राजनीतिक प्रक्रियाओं में जनता की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए लोकतान्त्रिक संरचनाओं का विकास किया जा सका। सामाजिक रूप में समतामूलक समाज का निर्माण होगा जिसमें मध्ययुगीन विषमतापूर्ण ढाँचे को पूरी तरह से उपेक्षित करने की अवधारणा राज्य में विकास की रीढ़ होगी। सांस्कृतिक आधार पर किसी का उत्पीड़न नहीं किया जायेगा, अल्पसंख्यकों के हितों को नज़रंदाज नहीं किया जायेगा। राज्य का मूल ढाँचा धर्म-निरपेक्षता का होगा और आर्थिक आधार समाजवाद को अन्तिम लक्ष्य मानकर चलेगा। इन मूल संकल्पनाओं के लिए तमाम कानूनी विकास किए गए और नीति नियमन की प्रक्रियाएँ लागू की गईं।

देश की इन आकांक्षाओं का परिपालन कितना किया गया, यह सबसे बड़ा सवाल था जिसको इस अध्याय में परखने की कोशिश की गई और पाया कि यह क्षेत्र सबसे अधिक समस्यामूलक रहा है। विकास की स्थितियों के नियमन में कहीं रह गई खोट उन विसंगतियों को जन्म देती हैं जिनकी प्रत्याशा हमने नहीं की होती है। देश की वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक

का लाभ समाज के निर्बल तबकें को नहीं मिला। गरीबों-अमीरों के बीच की खाई राजनीतिक प्रयासों के ठीक से क्रियान्वयन के न होने के कारण देश में विकास समतावादी नहीं रहा। इस विकास ने तमाम तरह की विसंगतियों को जन्म दिया। प्रगति की। देश को आत्मनिर्भरता की तरफ अग्रसर किया, लेकिन यह सब हमने प्राप्ति की। सामाजिक ढाँचे में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी स्थितियों में काफी हम जीवन प्रत्याशा को बहुत आगे तक ले गए। आर्थिक विकास में नये स्तरों की कल्याणकारी धर्म निरपेक्ष और समर्थ राष्ट्र बनाने की अवधारणा पर हम आगे बढ़े। भारत में एक मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा को अपनाते हुए देश को के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन किया। इसमें पाया कि स्वतंत्रता के बाद से ही इस अध्ययन में भारत के व्यावहारिक विकास मार्ग और उत्पन्न विसंगतियाँ

पूरा करने का मेरा लक्ष्य रहा है।

समानाशक्तियों की विकास सम्बन्धी परियोजना रिपोर्टों के जरिये इस अध्ययन को योनिन्द्र सिंह, ए०आर० देसाई, पूरन चन्द्र जोशी, एम०एन० श्रीनिवास आदि प्रमुख क्षेत्र, सांस्कृतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र। प्र० श्यामाचरण दूबे, प्र० है और उनके भीतर 'विसंगतियाँ' किस प्रकार से जन्म लेती हैं, प्रमुख सामाजिक अध्ययन में शामिल है। विकास ने किन-किन क्षेत्रों को मुख्य रूप से प्रभावित किया निजी क्षेत्र का विकास, मूमाडलीकरण और उपभोक्तावाद का समय विवेचन इस भाषा, धर्म और जातिगत संरचना, पंचवर्षीय योजनाएँ, अन्य शासकीय योजनाएँ, पिछले साठ-सालों में भारत की विकास यात्रा, संवैधानिक दिशा-निर्देश, भारत की द्वितीय अध्ययन - "भारत का विकास मार्ग और तदन्वय विसंगतियाँ" है।

के विकास के व्यावहारिक स्वरूप ने पैदा किया है।

स्थितियाँ गहरे संकट की शिकार हैं। इनकी जड़ में वे विसंगतियाँ हैं जिन्हें राष्ट्र

बढ़ती गई। सम्पत्ति का केन्द्रीकरण बढ़ता गया, शिक्षा का लाभ सारे समुदाय को समान रूप से नहीं मिला। ज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिकता और अंधविश्वास का घालमेल तैयार हुआ। सामाजिक क्षेत्र में जातिप्रथा का उन्मूलन होने के स्थान पर जाति का राजनीतिकरण हो गया। और उसके मजबूत होने के दूसरे कारण तैयार हो गए। सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में व्याप्त भ्रष्टाचार ने देश की जनता के विश्वास को खोखला कर दिया। देश के विकास के लिए बड़ी-बड़ी परियोजनाओं को लागू करने में देश की जनता की अपनी सोच, संस्कृति और जीवन प्रक्रिया का ध्यान नहीं रखा गया उससे विस्थापन की स्थितियाँ पैदा हुईं और जनता इतिहास, संस्कृति और तदन्तर स्मृतिविहीन होने के कगार पर पहुँच गई।

इस अध्याय में देश के विकास के क्रियान्वयन में विभिन्न नीतिगत और व्यावहारिक पहलुओं की गहन विवेचना के लिए सरकारी नीति सम्बन्धी दस्तावेजों और तथ्यों को आधार बनाया गया है आरम्भिक दो अध्याय विकास के सैद्धान्तिक स्वरूप और उसमें प्रतिफलित विसंगतियों के व्यावहारिक स्वरूप को आमने-सामने रखकर उन सवालों की ओर दृष्टिपात करते हैं जिनसे आम जनता प्रतिदिन जूझ रही है। देश की जनता की समस्याओं के मूल कारण उन स्थितियों में ही दिखाई देते हैं जिन्हें विकास के विसंगतिदायक रूप ने पैदा किया है वे कहीं भुखमरी, विस्थापन, लोकतंत्र का मखौल, कानून व्यवस्था का दुरुपयोग, न्याय व्यवस्था की ढीली-ढाली चाल, शिक्षा व्यवस्था की अव्यावहारिक स्थितियाँ, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, आधारभूत संरचना के विकास की विसंगतिपूर्ण संरचनाएँ, विकास के हर क्षेत्र में समस्याएँ ही समस्याएँ दिखाई देती हैं। इस बात में कोई दो राय नहीं कि अर्थव्यवस्था के नियमों के अनुसार देश ने व्यापक रूप में तरक्की की है लेकिन मानव समुदाय पर पड़े प्रभाव इस तरक्की के कवच के भीतर की नंगी तस्वीर को

प्रस्तुत करते हैं। अन्दर की स्थितियाँ धीरे-धीरे ऐसी स्थितियों को जन्म दे रही हैं जिनमें कभी भी विस्फोट हो सकता है। यह विस्फोट गम्भीर अराजकता को जन्म देगा और कई माइने में दे भी रहा है। इन समस्याओं से निपटने का एक मात्र तरीका है कि देश के विकास के स्वरूप को पुनर्परीक्षित किया जाय और देश के संवैधानिक ढाँचे की आकांक्षाओं को ध्यान से परखते हुए कल्याणकारी नीतियों को लागू किया जाय।

अध्याय तृतीय “वीरेन्द्र जैन के व्यक्तित्व और कृतित्व” से सम्बन्धित है। इसमें वीरेन्द्र जैन के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को एवं उनके कृतित्व को सारांश के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वीरेन्द्र जैन का जन्म पाँच सितम्बर 1955 को गुना जिला, मध्य प्रदेश के सिरसौद गाँव में एक जैन परिवार में हुआ था। दस भाई एवं बहनों में वे अपने माता-पिता की सातवीं संतान हैं। इनके पिता तीन भाई थे। पितामह दो भाई। इनके परिवार में खेती और साहूकारी का काम होता था इनकी माँ जमींदार परिवार से हैं। पाँचवीं कक्षा तक की पढ़ाई लेखक के गाँव की प्राथमिक पाठशाला में हुई उसके बाद अन्य भाईयों की तरह इन्हें भी शहर में पढ़ने भेज दिया गया। कक्षा छः से दस तक (दसवीं की परीक्षा नहीं दे सके) दिल्ली के ‘जैन हायर सेकेंडरी स्कूल’ में पढ़ाई की। इसी बीच ‘कामेश्वर सिंह दर्भंगा संस्कृत विश्वविद्यालय’ से संस्कृत की प्रथमा, पूर्व मध्यमा और उत्तर मध्यमा परीक्षाएँ भी पास कर लीं थीं इसलिए फिर से दसवीं में पढ़ने के बजाय ‘राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान’ (शिक्षा मंत्रालय) नई दिल्ली के शास्त्री पाठ्यक्रम में प्रवेश ले लिया। ‘महावीर विश्वविद्यापीठ और लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ’ में पढ़ते हुए शास्त्री, शिक्षा शास्त्री (बी0एड0) और साहित्य और जैन दर्शन से आचार्य

(अपूर्ण) की परीक्षाएँ पास कीं। फिर आचार्य द्वितीय वर्ष से पढ़ाई का सिलसिला टूट गया।

कक्षा दस में आते न आते अपनी गुज़र-बसर का भार स्वयं वीरेन्द्र जैन को उठाना पड़ा। प्लास्टिक का पाउडर भरने, एक प्रज्ञा चक्षु विद्वान को साहित्य पढ़कर सुनाने, उनके बोले को लिखने, डनलोपिलो के गद्दे बेचने, तार बनाने की फैक्ट्री में हैल्परी करने, सब्जी मंडी में आढ़तियों की बोलियाँ लगाने, कैटीन चलाने, सुई, धागे, बटन, कफ, कॉलर, दवाइयाँ सप्लाई करने, एक मंदिर में पुजारी का काम करने, और भी कुछ छोटे-छोटे काम करने के एवज में जो मिला उसी से गुज़र-बसर की, और पढ़ाई जारी रखी। इसी बीच उन्हें कुछ छात्रवृत्तियाँ भी प्राप्त हुई।

सन् 1973 में पहली ठीक-ठाक नौकरी 'भारतीय ज्ञानपीठ' में मिली। फिर 1976 में जैनेन्द्र कुमार के 'पूर्वोदय प्रकाशन' में, 1977 में 'राजकमल प्रकाशन' में, 1979 में दिल्ली प्रेस की 'सरिता-मुक्ता पत्रिका' में उन्हें उपसंपादक का पद मिला तथा 1982 में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया ग्रुप की सारिका' में और 1991 से वे इसी ग्रुप के 'सान्ध्य टाइम्स-पत्रिका' में उपसंपादक के पद पर कार्यरत हैं।

23 जून, 1979 को 'मणिकांता चौधरी' के साथ उनका विवाह हुआ। 1981 में पहली संतान पुत्र 'प्रतीक' का जन्म हुआ, जो उसी वर्ष अकाल में ही काल-कवलित हो गया। 1983 में पहली बिटिया 'भूमिका' का जन्म हुआ और 1986 में दूसरी बिटिया 'इति' का। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में 'वीरेन्द्र जैन' की रचनाएँ एवं लेख प्रकाशित होते रहे हैं। कई रचनाओं का अनुवाद कन्नड़, तेलगू, मराठी, मलयालम, अंग्रेजी, पंजाबी और अन्यान्य भाषाओं में हो चुका है। रचनात्मक लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता भी उनका पेशा रहा है। विभिन्न प्रतिनिधि

संकलनों में भी कई रचनाएँ संकलित हो चुकी हैं। उनके लेखन का प्रारम्भ 1977 से शुरू हुआ। पहली रचना व्यंग्य थी 'यदि मैं मंत्री बना तो।' पहला उपन्यास 'अनातीत' भी इन्हीं दिनों लिखा, लेकिन 1978 में पहले प्रकाशित हुआ दूसरा उपन्यास 'सुरेखा-पर्व'। शुरूआती चार उपन्यास 'वीरेन्द्र कुमार जैन' नाम से प्रकाशित हुई तत्पश्चात् अन्य रचनाएँ 'वीरेन्द्र जैन' नाम से प्रकाशित हुई।

वीरेन्द्र जैन का पहला लघु उपन्यास 'सुरेखा-पर्व' अनाथालय में पली-बढ़ी लड़की के सामाजिक शोषण का चित्रण प्रस्तुत करता है। सुरेखा एवं विद्या जैसी लड़कियों को अनाथालय में रहते हुए न केवल व्यवस्था तंत्र के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार और अकेलेपन की मानसिक पीड़ा भोगनी पड़ती है, बल्कि शादी के बाद भी पति एवं परिवार द्वारा अनाथ होने के कारण उन्हें तमाम तरह की अमानवीय स्थिति एवं अत्याचार का सामना करना पड़ता है। एक व्यक्ति के रूप में अनाथ होना सबसे बड़ी सामाजिक त्रासदी है इसकी पीड़ा व्यक्ति को जीवन पर्यन्त भोगनी पड़ती है इस पर भी यदि वह लड़की हो तो उसका दुख दुगुना हो जाता है। इस प्रकार यह 'सुरेखा-पर्व' लगातार चलता रहता है और आज भी वे अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हैं।

वीरेन्द्र जैन ने अपने दूसरे लघु उपन्यास 'अनातीत' में विजय एवं सुषमा के बीच रहे प्रेम सम्बन्ध को फ्लैशबैक (पूर्व दीप्ति) पद्धति के रूप में दिखाया है। इस प्रगाढ़ प्रेम में भी जब निर्णय लेने का अवसर आता है तब विजय अपने पिता की रुढ़िवादी इच्छा के कारण सम्बन्ध से हाथ झाड़ लेता है। सुषमा के विधवा हो जाने पर भी वह सहानुभूतिवश ही उसके करीब पहुँचता है एवं ढाढस बँधाता रहता है। लेकिन समाज एवं परिवार की पारम्परिक मान्यताओं को तोड़कर सुषमा को पुनः अपनाने का साहस नहीं कर पाता है। लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक

‘अनातीत’ ठीक ही रखा है कि विधवा का जीवन शुरू से अन्त तक एक ही समान यानि दुखमय ही रहता है। उसमें ‘अतीत’ नाम की कोई सुन्दर वस्तु नहीं होती है।

वीरेन्द्र जैन ने ‘तलाश’ शीर्षक के अन्तर्गत एक पत्र के रूप में उपन्यास की रचना की है। इसमें ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है डाकुओं का आतंक, साहूकारों का कसता शिकंजा और मठाधीशों के निहित स्वार्थों के बीच मुश्किल से साँस भर लेकर जीने वाले आम आदमी की व्यथा कथा कही गई है। ‘मल्लू’ को सम्बोधित अलग-अलग पत्रों में लेखक ने डाकुओं के आपसी झगड़े, पुलिस वालों के अवांछित आतंक जैसी विडंबनाओं के अच्छे चित्र खींचे हैं। इस प्रकार इस उपन्यास में लेखक ने साहूकार, डाकू और पुलिस के तिहरे चक्र में फँसे हुए गरीब किसान की मर्मगाथा का बयान किया है और इन शोषकों के नंगे चेहरों को समाज के सामने उघाड़ने का प्रयास किया है।

‘वीरेन्द्र जैन’ का ‘डूब’ उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत में अपनायी गयी विकास योजनाओं की विसंगतियों और उससे उत्पन्न विस्थापन की समस्या को केन्द्र बनाकर लिखा गया है। जिसमें लेखक ने मध्य प्रदेश के एक पिछड़े अंचल में बड़े बाँधों द्वारा विकास के नाम पर की जा रही विनाश की कथा को एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। बड़े बाँध केवल आर्थिक विकास के लिए उठाया गया वैज्ञानिक प्रगतिशील चरण नहीं होता, वह एक संस्कृति संहारक दैत्य का विनाशक कदम भी है। बड़े बाँध की मूल संकल्पना से लेकर उसके पूरे सम्पन्न होने तक एक भयावह संकट से लोक-जीवन तबाह होता है।

उपन्यासकार ने बाँध-निर्माण से उठने वाली समस्या, ‘डूब’ क्षेत्र में डूब जाने वाली मनुष्यता, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और वहाँ रहने वाले आदमी की त्रासदी का भयावह चित्र खींचा है। इनमें से न जाने

कितने व्यक्तियों को पानी में डूबना पड़ता है और कितने बाँध-निर्माण की वजह से यंत्रणाओं, यातनाओं और भूख के पारावार में खत्म हो जाते हैं। इसका कोई हिसाब-किताब किसी सरकार के पास नहीं होता क्योंकि सरकार 'डूब' क्षेत्र को बीसियों साल पहले डूबा हुआ मानकर सो जाती है। वहाँ रहने वाले लोगों को जीवित मनुष्य मानना छोड़ देती है। 'वीरेन्द्र जैन' ने अपने इस उपन्यास द्वारा पिछड़े एवं आदिवासी क्षेत्रों में विकास के नाम पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध जन-जागरण का शंखनाद फूँका है, जो बताता है कि मनुष्य को भूलकर मनुष्य के लाभ के लिए किया जाने वाला हर काम मनुष्य विरोधी है।

आज़ादी के बाद भारत में विकास के लिए पश्चिमी मॉडल पर आधारित जिन उद्योग-धंधों का विकास किया गया, वह हमारे देश की आवश्यकता एवं स्थितियों के प्रतिकूल था। अंग्रेजों के जाने के बाद औपनिवेशिक मानसिकता वाले लोगों के ही हाथ में इस देश की बागडोर थमा दी गई। ये लोग अपनी जड़ों से कटे हुए तथा आम जनता की जमीनी जरूरतों से अनभिज्ञ थे। परिणामस्वरूप विकास की हड़बडी में उन्होंने उसी पश्चिमी साम्राज्यवादी औद्योगिक मॉडल को अपना लिया जो प्रकारांतर से इस देश की आम जनता के शोषण एवं बदहाली का प्रमुख कारण रहा है। इन्हीं बड़े उद्योग-धंधों की एक कड़ी के रूप में हमारे यहाँ वृहत बाँध-योजना शुरू की गई, जिसके तहत सरकार ने विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों जैसे— जमीन, जंगल, तालाब, नदियों आदि का अधिग्रहण करना शुरू किया। इसके कारण एक बहुत बड़ी जनसंख्या को अपने घर, परिवार, जमीन एवं जीविका के साधनों से वंचित होकर विस्थापन के लिए मजबूर होना पड़ा। आज़ाद भारत में अपनायी गयी विकास योजनाओं की विसंगतियों की झलक हमें इस युग के साहित्य में भी दिखायी पड़ती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् जिस मिश्रित अर्थव्यवस्था को लागू किया गया था, उसके मूल में ही वर्गीय हित शामिल था। यह हित देश के कुछ परिवारों से जुड़ा था और इसका कारण नीतियों को लागू करने वालों का दलाल चरित्र था। परिणाम भारतीय जनता को भुगतना पड़ता है और विकास की जिस असंगत पीड़ा का भार 1947 से आरम्भ होता है, वह आज तक बढ़ता चला आ रहा है। तभी लेखक 'वीरेन्द्र जैन' भी 'पार' उपन्यास में नेहरू, इन्दिरा या राजीव के सपनों का भारत नहीं चाहते, वे तो माते, रामदुलारे के सपनों का भारत चाहते हैं।

'पार' उपन्यास के सन्दर्भ में विसंगतियों का सामान्य विश्लेषण करते हुए रचनाकार की मान्यता को भी स्थान दिया गया है। वस्तुतः रचनाकार विकास के विरोध में नहीं है। लेकिन विकास के उस रूप का विरोधी जरूर है जिसमें एक छोटा वर्ग तो फलता-फूलता है लेकिन एक बड़ा वर्ग त्रासद स्थिति को पहुँचता है। इस उपन्यास में यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि सवाल हर उस जगह हैं— जहाँ विकास के नाम पर कार्य हो रहे हैं। लेकिन सवालों को जनता तक लाने का कार्य न मीडिया कर रही है और न ही सरकार। पीड़ित व्यक्तियों के लिए कोई जगह नहीं है और अफसरों के लिए अभयारण्य बनाया जा रहा है। यह केवल एक गाँव की नहीं सारे भारत की कथा है।

इसी सामान्य विश्लेषण के तहत यह प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि मुआवजे की राशि हमेशा उसे मिलती रही है जो इसके हकदार कम हैं और उनको छोड़ दिया गया है, जो सबसे ज्यादा प्रभावित रहे हैं। यही कारण है कि उपन्यास में आये संकेत भोपाल गैस कांड और दिल्ली में हुए सिखों के कत्लेआम की ओर इशारा करते हैं। इनके लिए भी अभी तक कुछ नहीं किया गया। होगा

क्यों ? सत्ता का चरित्र जब तक अमानवीय हो, तो ऐसा संभव ही नहीं है। तभी लेखक शिक्षा, सड़क और संगठन की आवश्यकता महसूस करता है।

सत्ता की संस्कृति के अपने तर्क होते हैं। आदिवासी और ग्रामीण समाज विकास के लिए अपना रहन-सहन, आचार-व्यवहार तो बदल रहे हैं। लेकिन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से अभी भी ग्रस्त हैं। इसी में रहने में सत्ता पक्ष की भलाई है। यही कारण है कि जितना बदलना चाहिए उनके स्वार्थ के लिए, वे उतना ही बदलना चाहते हैं। यह भी वही निर्धारित करते हैं कि बदलने का स्वरूप क्या हो।

अनाथ बेटे-बेटियों के परिवेश को अनाथ आश्रम के संदर्भ में रेखांकित करता 'पंचनामा' उपन्यास हालाँकि एक पारम्परिक और आदर्शवादी नायक की छवि ही प्रस्तुत करता है, लेकिन उपन्यास समाप्त होने से पहले बहुत दूर तक यह पंचनामा न तो किसी नायक का है और न किसी एक अनाथ का, बल्कि यह पंचनामा है उस समाज का जो अनाथ का दर्द नहीं समझ पाता; और है उस व्यवस्था का जिसने अनाथ आश्रम जैसी संस्थाओं को जन्म दिया है। उस प्रशासनिक ढाँचे का जो अनाथ आश्रमों का प्रबंध संभालता है।

इस संदर्भ में बहुत सारे सवाल उठते हैं: किसी भी आश्रम की पहली जरूरत क्या है— दया, कृपा, सहानुभूति अथवा स्नेह, आत्मीयता, बंधुत्व और ममत्व ? यह अहसास कि वह लाचार नहीं है या यह बोध कि वह हमेशा किसी दानी का शुक्रगुजार बना रहे ? वह दो जून रोटी खाकर अपने पेट को शांत कर ले और आँखों में भूख लिये फिरता रहे, या वह पाये कि जीवन का दूसरा नाम है स्वाभिमान और रोटी का मतलब है उसका हक। उपन्यास में दसियों अनाथ बच्चे अपनी तमाम परिवेशगत अच्छाइयों, बुराइयों, शरारतों, नेकियों, शराफत, गुस्से और

प्यार के साथ अपनी तरफ ध्यान देने को बाध्य करते हैं। उन्हें अपनी नेकी के सिले की चिंता नहीं है तो उददंडता के प्रति कोई शर्मिंदगी भी नहीं। वे अभाव से प्यार नहीं करते, अभाव में रह रहे हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का यह उपहार हमारा सामना किस पीढ़ी से करवाएगा ? दरअसल, ये तमाम बातें कहने की नहीं, सोचने की हैं। और नई पीढ़ी के प्रतिष्ठित उपन्यासकार 'वीरेन्द्र जैन' का यह उपन्यास सोचने का भरपूर अवसर अवश्य देता है।

'शब्द-बध' उपन्यास लेखक और प्रकाशक के बीच के रिश्तों की कहानी है, जिसे लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर उस भोगे हुए यथार्थ को प्रस्तुत किया है, जिसकी त्रासदी उसे शोषित समाज की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है और प्रकाशक को एक शोषक के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। संभव है इस उपन्यास के माध्यम से लेखक का समूची व्यवस्था की बखिया उधेड़ने का प्रयास रहा हो, किन्तु उपन्यास 'शब्द-बध' मूलतः प्रकाशन व्यवसाय की स्थिति और खासकर हिन्दी साहित्यिक प्रकाशन उद्योग की स्थिति को बेनकाब करने की जंग लड़ता ज्यादा दिखाई देता है।

इस उपन्यास में प्रकाशन व्यवसाय पर लांछन लगाने की नहीं, इस और ऐसी मानसिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगाने की कोशिश की गई है। किताबों का पाठ्यक्रमों में लगाया जाना, उनकी खरीद-बिक्री, लेखक को उसका देय न मिलना, रॉयल्टी फ्री पुस्तकों और रचनावली परम्परा पर छाए धुँधलकों आदि ज्वलंत विषयों को लेखक ने रोचक प्रसंगों के साथ जोड़कर रचा है। अतः लेखक का कहना है कि इस उपन्यास के बहाने यदि लेखक-प्रकाशक संबंधों और घासलेटी साहित्य के प्रकाशकों के आचरण पर कुछ सुगबुगाहट उत्पन्न हो, तो

आज के साहित्य की दिनोंदिन लस्टम—पस्टम होती जा रही हालत को कुछ सुधार का अवसर मिल सकता है।

‘वीरेन्द्र जैन’ के उपन्यास ‘सबसे बड़ा सिपहिया’ में उनका कथानायक आनंदवर्धन, एक प्रतिष्ठित पत्रिका समूह में पत्रकार होने के बावजूद, एक सामान्य नागरिक के बतौर, अपने घर में हुई चोरी के बहाने, पुलिस महकमे के सम्पर्क में आता है। वहाँ उसे वैसे ही तल्ख अनुभवों के बीच से गुज़रना पड़ता है, जो पुलिस के सम्पर्क में किसी भी सामान्य नागरिक की नियति माने जा सकते हैं। जिद और कट्टर आदर्शवादिता पर अड़ जाने के बाद तो उसका पत्रकार वाला चोला भी उसके व्यक्तित्व की हिफाजत नहीं कर पाता। खैर, हमारे पुलिस महकमे का सत्य तो इससे भी ज्यादा क्रूर और भयानक है, जिसके लिए किसी साहित्यिक कृति के बजाय रोजमर्रा की अखबारी खबरें अपेक्षाकृत अधिक सटीक कसौटी साबित हो सकती हैं। फिर भी, ‘सबसे बड़ा सिपहिया’ को इसलिए खासतौर से रेखांकित किया जाना चाहिए कि जिस महकमे पर देश में कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी है, उसके गैर—जिम्मेदाराना और व्यक्तिद्रोही स्वरूप को सार्वजनिक बनाने की, क्षीण ही सही, एक कोशिश इस उपन्यास के माध्यम से की गई है।

अध्याय चतुर्थ — “वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की विसंगतियाँ” शीर्षक से है। वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में विभिन्न क्षेत्रों की विसंगतियाँ तरह—तरह से सामने आई हैं। इस अध्याय में सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की विसंगतियों के स्वरूप को देखने का प्रयास अलग—अलग किया गया है।

वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के विकास की विसंगतियों के सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष को मजबूती से उठाया है। सामाजिक

और सांस्कृतिक क्षेत्र वे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो देश के सामाजिक स्वास्थ्य में निर्माणकारी होते हैं। इस क्षेत्र में आई गड़बड़ियाँ न केवल सामाजिक समस्याओं की कारक होती हैं बल्कि कई बार विकास के रास्ते में बाधा बनकर खड़ी हो जाती हैं। यदि किसी देश के विकास को देखना है तो देश के सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप में ही देखा जा सकता है।

आजादी की लड़ाई भले ही राजनीतिक लड़ाई थी लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक सुधार बहुत बड़ा मुद्दा था। उन्नीसवीं सदी का इतिहास राजनीतिक से अधिक सामाजिक विकास और सुधारों का इतिहास है। आज़ाद भारत में परम्परा से प्राप्त उन संकल्पों को लागू करने की कटिबद्धता दिखाई गई। जातिप्रथा, छुआछूत, गैरबराबरी, हिंसा, सामाजिक अन्याय, सामाजिक बहिष्कार और तमाम तरह की क्रूरताएँ समाज में कम होने के बजाय बदलकर जटिल से जटिल हो गईं। सामाजिक न्याय के लिए जिस आरक्षण की प्रणाली का सहारा लिया गया उसने जातिगत विद्वेष को और अधिक बढ़ावा दिया। सामाज सुधार के लिये तमाम तरह के सरकारी कार्यक्रमों को तैयार किया गया लेकिन उनके क्रियान्वयन ने शोषितों के हितों को हड़पने की परम्परा को ही आगे बढ़ाया। शोषितों की हित रक्षा के कानून कहीं न कहीं दुरुपयोग के शिकार हुए। यह आज़ाद भारत की बढ़ी सामाजिक विसंगति रही है।

वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में इस बात को हर तरह से उठाया गया कि चाहे दलितों, शोषितों का उत्पीड़न हो अथवा स्त्रियों के प्रति अत्याचार, सामाज के छोटे से बड़े सभी स्तरों पर बदस्तूर जारी है उनको उखाड़ने के सरकारी कार्यक्रम इसलिए असफल रहे क्योंकि वास्तव में उनके पीछे ऐसी मंशा ही नहीं है कि इन्हें

समाप्त होना चाहिए। इनके साथ राजनीतिक क्रिया-कलापों को जोड़ दिया गया है। इससे इनका उपचार बड़ा कठिन लगता है।

आधुनिक भारतीय सामाजिक चेतना के विकास में अन्तर्निहित विसंगतियों के फलस्वरूप सांस्कृतिक चेतना का विकास भी विसंगतिपूर्ण रहा। वैज्ञानिक पद्धतियों के विकास, पश्चिमीकृत जीवन पद्धति, लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने सोच-विचार के परम्परागत तरीके में परिवर्तन किये। लेकिन ये परिवर्तन धार्मिक, सांस्कृतिक अतार्किकता से पूरी तरह निजात नहीं दिला पाये, इनका एक ऐसा घालमेल तैयार हुआ कि वैज्ञानिक का दर्जा पाने वाला भी व्यक्तिगत जीवन में इनका शिकार दिखाई दिया। 'ग्राम्शी' ने 'बौद्धिक स्थितियों' के चिन्तन में ग्रामीण वर्ग के कारीगर, शिल्पी तक को बौद्धिक प्रक्रिया का हिस्सा माना और कहा कि इनकी जीवन के प्रति सोच वैज्ञानिक और बौद्धिक है। भारतीय ग्रामीण संरचना में तमाम ऐसी स्थितियों का विकास पाते हैं जो कि इस बौद्धिक वर्ग पर अन्धविश्वास का मुलम्मा चढ़ाती जाती है। 'वीरेन्द्र जैन' ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण समुदाय की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को बार-बार दिखाने की कोशिश की है।

आज़ादी के बाद की वैज्ञानिक और शैक्षिक माँगों ने बन्द ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक सोच को बदलने की दरकार की। यह तभी सम्भव था जब ग्रामीण बौद्धिक समाज की शिक्षा व्यवस्था में गम्भीर परिवर्तन हो। सरकारी तौर पर इसके लिए तमाम तरह के शैक्षणिक कार्यक्रम चलाये गये। प्रौढ़ शिक्षा से लेकर नई शिक्षा और सर्वशिक्षा तक। इनका परिणाम यह होना चाहिए था कि अप्रासांगिक हो चुकी सांस्कृतिक संस्थाओं को निर्मूल हो जाना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। ग्रामीण बौद्धिकों की तो बात ही दूर है, शहरी वैज्ञानिक पेशे में लगे लोग भी पुराने तरह के सांस्कृतिक ढाँचे से बाहर नहीं निकल पाये।

‘वीरेन्द्र जैन’ के उपन्यास ग्रामीण और शहरी दोनों समुदायों में व्याप्त तमाम तरह की सांस्कृतिक अप्रासंगिकताओं को खोलकर रख देते हैं। चरित्रों के भीतर अंधविश्वास परिहास की सीमा तक व्याप्त है। इससे वे मज़ाक के पात्र तक बनते हैं। विकास की स्थितियाँ ऐसे क्रिया-कलापों को सहायता ही पहुँचाती हैं। दूसरी तरफ बाज़ार की संस्कृति के पसरने से वैज्ञानिक और बौद्धिक सोच के साथ सांस्कृतिक रिश्ता जैसे छूटा हुआ सा नज़र आने लगता है।

अध्याय पंचम का शीर्षक – “वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में आर्थिक और राजनीतिक विकास की विसंगतियाँ” है। इसमें आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र की विसंगतियाँ जिस तरह से उनके उपन्यासों में आई हैं और देश के हालातों से जैसे उपज रही हैं, उनके बीच के सम्बन्ध को रेखांकित किया गया है।

भारतीय लोकतंत्र की स्थापना में इस बात को गम्भीरता से लिया गया था कि ऐतिहासिक कारणों से पैदा हुई आर्थिक विषमताओं को राज्य दूर करने के प्रयास करेगा। इसके लिये संवैधानिक प्रावधान किये गये, कानून भी बनाये गये और योजनाओं को लागू करने की विशिष्ट प्रणाली अपनाई गयी जो कि समाजवादी ढाँचे पर आधारित थी। यह एक तरह से धीमे-धीमे कमजोर वर्ग के अपलिफ्टमेन्ट को लागू करने की मंशा पर आधारित था। लेकिन आज़ादी पाने की प्रक्रिया में ही लोकतंत्र में ऐसे तत्वों का प्रवेश हो गया था जिन्होंने बाद में गम्भीर आर्थिक विसंगतियों को जन्म दिया।

भारत के विकास के मॉडल में कल्याणकारी राज्य की संकल्पना और समाजवादी सिद्धान्त की मान्यता को रखा गया था। जिसमें आर्थिक बराबरी राज्य का कर्तव्य था लेकिन योजनाओं को लागू करने की पद्धति ने सम्पत्ति के

संकेन्द्रण की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। एक तरफ गरीबों की फौज खड़ी होती चली गयी दूसरी तरफ बड़ी-बड़ी आर्थिक संस्थाएँ सम्पत्ति के संकेन्द्रण का अपना वर्चस्व स्थापित करती गईं। यह इनके वर्चस्व की पराकाष्ठा है कि देश की सर्वोच्च संस्था संसद के फैसलों को प्रभावित करने, निर्मित करने का अप्रत्यक्ष अधिकार इन संस्थाओं ने हासिल कर रखा है। विकास के नाम पर बड़ी से बड़ी परियोजना गरीबों की आखिरी सम्पत्ति तक को उनसे हड़प लेने की आधारशिला पर नियोजित होती है और उसे लागू करने के लिये राज्य की सरकारें किसी भी तरह का अस्त्र प्रयोग कर सकती हैं। सरकारी पैसे (जनता के पैसे) से बनने वाली सभी योजनाएँ शैक्षिक एवं संरचनात्मक, आर्थिक क्रिया-कलापों में सीधे तौर पर उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचाती हैं जिन्होंने आर्थिक मामलों में वर्चस्व हासिल कर रखा है।

वीरेन्द्र जैन के उपन्यास यह दिखाते हैं कि इस स्थिति की जनता शिकार है उसको दो जून की रोटी मयस्सर नहीं है। भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे उनके अधिकार उन्हें चिढ़ाते से नज़र आते हैं। उनके चरित्रों में यह बात दिखाई देती है कि देश के संविधान और योजनाओं के विपरीत स्थितियों ने देश पर कब्जा कर लिया है।

देश के विकास का आवश्यक आयाम है आर्थिक विकास और इसका नियमन करता है राजनीतिक विकास। राजनीतिक प्रक्रियाओं का स्वरूप यह तय करता है कि किस तरह की आर्थिक प्रक्रियाएँ राष्ट्र में नीतिगत रूप प्राप्त करेंगी। हालाँकि मार्क्सवादी विचार यह मानकर चलता है कि आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे अस्तित्व को निर्धारित करती हैं। राजनीतिक, सामाजिक विचारधारा को प्रभावित करती हैं लेकिन यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में घटित होने वाली प्रक्रिया है। प्रत्यक्ष रूप में दिखने वाली प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया है और अन्तस्थल में यह आर्थिक

प्रक्रिया से संचालित होती है। भारत में विकास के राजनीतिक, आर्थिक स्वरूप को एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में ही समझा जा सकता है। वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में इन प्रक्रियाओं, व्यावहारिक रूपों की गहन समीक्षा की है।

जनतंत्र की सबसे बड़ी सफलता होती है नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों के प्रति शिक्षित करना। उन्हें वास्तव में नागरिक बनाना। सभ्य समाज में नागरिक अधिकारों के लिए विशेष प्रावधानों को सदैव स्थान दिया गया। दुनिया भर के संवैधानिक विकासों में यह बात शामिल रही कि सत्ता लोगों के नागरिक अधिकारों का हनन न करने पाए। भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों में इसी बात को दोहराया गया। लेकिन विकास के स्वरूप और सशक्तीकरण की प्रक्रिया ने तरह-तरह से इन राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का हनन किया। जो संस्थाएँ एक तरफ नागरिक अधिकारों के संरक्षण के दायित्व से बँधी हैं उनके लागू करने की प्रक्रिया इसका उल्टा करती है। यह आधुनिक भारत की बड़ी विसंगति है।

वीरेन्द्र जैन के इन उपन्यासों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जनता राजनीतिक विकास से अपने आपको ठगा हुआ और लाचार महसूस करने लगी है। उसके लिए लोकतंत्र, स्वतंत्रता और विकास के माइने हैं— अरिस्टोक्रेसी, दासता और जड़ों से उखाड़ फेंक दिया जाना। पुरानी कबीलाई राजनीतिक संस्थाएँ अपने बदले हुए रूप में आज भी कायम हैं न जाने कब इससे निजात मिलेगी। यही हताशा कहीं न कहीं वीरेन्द्र जैन के विभिन्न चरित्रों में दिखाई देती है।

षष्ठ अध्याय — ‘उपसंहार’ में इन पाँच अध्यायों में किए गए शोध के मुख्य बिन्दुओं को रेखांकित करते हुए अपनी शोध यात्रा के निष्कर्षों और विकास की विसंगतियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि देश के विकास का स्वरूप जनता की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। उनकी मानसिक और सांस्कृतिक स्थितियों को छिन्न-भिन्न करने वाला है, साथ ही इन स्थितियों का समुचित विकल्प भी उसके पास नहीं है। हिन्दी साहित्य की संवेदनशीलता अपना दायित्व निभाते हुए इसे अपना विषय बनाने में अपनी महती भूमिका अदा कर रही है। इस माइने में यह जनता के भीतर सांस्कृतिक संवेदनशीलता का विकास करने का काम कर रही है वीरेन्द्र जैन ने भारतीय समाज में पायी जाने वाली प्रत्येक समस्या को सामने रखकर, अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उसका चित्रण किया है तथा उसके समाधानों की दिशाओं की ओर भी इंगित किया है।

Rajesh Kumar

स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास की विसंगतियाँ और वीरेन्द्र जैन के उपन्यास



अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
की पी-एच०डी० (हिंदी)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

सत्र 2013

निर्देशक :

प्रो० मुफ़्ख़र एहतिशाम जुबैरी

एम०ए०, पी-एच०डी०

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

शोधार्थी:

राजेश कुमार

एम०ए०, एम०फिल०

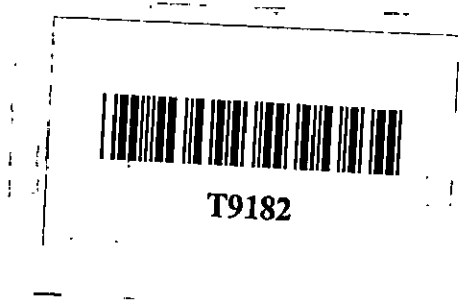
हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़ (भारत)



20 NOV 2014



Prof. M.E. Zuberi
M.A., Ph.D.



Department of Hindi

Aligarh Muslim University

Aligarh-202002(INDIA)

Mob:+09358708515

e-mail: mezuberi01@gmail.com

Dated..20/4/2013..

Certificate

Certified that the thesis entitled **"Swatantryottar Bharat Mein Vikas Ki Visangatiyan Aur Virendra Jain Ke Upanyas"** for the Ph.D. degree (Hindi) of Aligarh Muslim University by **Mr. Rajesh Kumar** is an original work. It is the result of his own endeavour. Mr. Rajesh Kumar has fulfilled all the conditions laid down in the ordinance of A.M.U., Aligarh.


(Prof. M.E. Zuberi)
Supervisor



**DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202002**

CHAIRMAN

Telex : 564-230 AMU IN
Phones : Off. 2700920 } Ext.
2700921 } 1460
2700922 } 1461
Res.(0571) 2742279

Dated : .2.0./04/.2013

Certificate

This is to certify that **Mr. Rajesh Kumar**, registered on 05.01.2009, Admission No. Ph.D./341-A-08, Enrolment No. GD-5995 has been a regular research scholar in the Department for a period of two years from the date of his admission.

The Ph.D. Thesis of the candidate entitled on "**Swatantroyottar Bharat Mein Vikas Ki Visangatiyan Aur Virendra Jain Ke Upanyas**" has been completed under the supervision of **Prof. M.E. Zuberi**, Department of Hindi submitted for evaluation on date 29./04/2013.


(Prof. M.E. Zuberi)

THESIS

प्राक्कथन

स्वतन्त्रता के साठ वर्ष बाद आज हम इस मुकाम पर हैं कि आज़ादी के बाद भारत के विकास का अवलोकन कर सकें। इतने सालों में हमने विकास के अनेक पायदानों को छुआ है। आर्थिक विकास हो, या राजनीतिक विकास, सामाजिक विकास हो या सांस्कृतिक विकास हर क्षेत्र में हमने नई ऊँचाईयों का संस्पर्श किया है। लेकिन अब तक विकास का स्वरूप इस तरह का रहा है, जिसमें निम्नतम से उच्चतम बिन्दु एक साथ विद्यमान हैं। देश में ग़रीबतम प्राणी भी हैं और विश्व के अमीरों में शामिल होने वाले धनी भी। सामाजिक जकड़बंदियाँ अत्यधिक रुढ़ रूप में पायी जाती हैं और उनको तोड़ने के उदारतम उदाहरण भी देखे जाते हैं।

लोकतन्त्र का क्रियान्वयन अनेक रूपों में विद्यमान है। इन स्थितियों से जगह-जगह पर 'विसंगतियाँ' जन्म लेती दिखाई देती हैं। मसलन विकास की बड़ी परियोजनाएँ जैसे — 'बाँध' बनाने के लिए आवश्यक संसाधन हमारे पास उपलब्ध हैं तथा हम उनका सार्थक उपयोग भी कर रहे हैं।

यह विकास देश के उद्योग धन्धों के साथ-साथ सम्पन्न वर्ग की आवश्यक जरूरतों को पूरा करने के लिए जरूरी है। दूसरी तरफ बाँधों के 'डूब' क्षेत्रों में रहने वाली नितान्त निर्धन समाज की सभ्यता, संस्कृति, संसाधन, इतिहास, स्मृति सब ध्वंस के कगार पर है। इस स्थिति में विकास के भीतर से 'विसंगति' जन्म लेती दिखाई देती है। यह कमोबेश हर क्षेत्र में हो रहा है। 'वीरेन्द्र जैन' के उपन्यास इसी तरह की समस्याओं के बीच से जन्मे हैं। मेरे शोध का विषय— 'स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास की विसंगतियाँ और वीरेन्द्र जैन के उपन्यास' है।

इस शोध के लिए मैंने जो संक्षिप्त रूपरेखा तैयार की है उसे छः अध्यायों में बाँटा है। प्रथम अध्याय— 'विकास और विसंगति: अवधारणा और आयाम' शीर्षक से है। इस अध्याय में विकास की अवधारणा और आयाम तथा विसंगति की

अवधारणा और उसके विविध आयाम मुख्य बिन्दु हैं। कार्ल मार्क्स, एमिल दुर्खीम, मर्टन, पारसनस आदि के विकास और विसंगति की अवधारणा सम्बन्धी पश्चिमी विचारों के परिप्रेक्ष्य में इस पूरे परिदृश्य को देखने का प्रयास किया गया है।

इस शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय का शीर्षक — 'भारत का विकास मार्ग और तदजन्य विसंगतियाँ' है। पिछले साठ सालों में भारत की विकास-यात्रा, विकास की योजनाएँ, पंचवर्षीय योजनाएँ, निजी क्षेत्र का विकास, भूमण्डलीकरण और उपभोक्तावाद का समग्र विवेचन इस अध्याय में शामिल है। विकास ने किन-किन क्षेत्रों को मुख्य रूप से प्रभावित किया है और उनके भीतर 'विसंगतियाँ' किस प्रकार से जन्म लेती हैं, प्रमुख सामाजिक क्षेत्र, सांस्कृतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र। प्रो० श्यामाचरण दुबे, प्रो० योगेन्द्र सिंह, ए०आर० देसाई, पूरन चन्द्र जोशी, एम०एन० श्रीनिवास आदि प्रमुख समाजशास्त्रियों की विकास सम्बन्धी परियोजना रिपोर्टों के जरिये इस अध्याय को पूरा करने का मेरा लक्ष्य रहा है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक — 'वीरेन्द्र जैन का व्यक्तित्व और कृतित्व' है। इसमें वीरेन्द्र जैन के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को एवं उनके कृतित्व को सारांश के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक — 'वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की विसंगतियाँ' है। वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में विभिन्न क्षेत्रों की 'विसंगतियाँ' तरह-तरह से सामने आई हैं। इस अध्याय में सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की विसंगतियों के स्वरूप को देखने का प्रयास अलग-अलग किया गया है।

पंचम अध्याय का शीर्षक — 'वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में आर्थिक और राजनीतिक विकास की विसंगतियाँ' है। इसमें आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र की

विसंगतियाँ जिस तरह से उनके उपन्यासों में आई हैं और देश के हालातों से जैसे उपज रही हैं, उनके बीच के सम्बन्ध को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

षष्ठ अध्याय— 'उपसंहार' में इन पाँच अध्यायों में किए गए शोध के मुख्य बिन्दुओं को रेखांकित करते हुए अपनी शोध यात्रा के निष्कर्षों और विकास की विसंगतियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार के अध्ययन से निष्कर्ष रूप में बहुत सी ऐसी बातें सामने आयीं जो देश में विसंगतियों का कारण बनीं। रचनाकार सदैव अपने युगीन वातावरण एवं परिवेश से प्रभावित होता है उसकी अनुभूति, उसका चिंतन, विचार, व्यवहार आदि समाज से प्रभावित होते हुए उसे सर्जना हेतु प्रेरित करते हैं। वह अपनी प्रतिभा शक्ति द्वारा युग सापेक्ष कृति की सर्जना करता है।

यह शोध कार्य मैंने प्रो० मुफ़्ख़र एहतिशाम जुबैरी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के निर्देशन में पूर्ण किया है। उन्होंने अपनी अत्यन्त व्यस्त दिनचर्या में से मेरे लिए समय निकाला। मैं उनके स्नेह एवं अमूल्य सहयोग को 'आभार' शब्द की संकीर्णता में बाँध पाने का-दुस्साहस नहीं कर पा रहा हूँ। गुरु माता फ़रहा जुबैरी के सहयोग को भी भुला पाना नितान्त असंभव है। मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा।

मैं उन समस्त विद्वजनों के प्रति आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं से मुझे सहयोग मिला है। साथ ही समस्त विभागीय गुरुजनों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनसे ज्ञान एवं आशीर्वाद मिलता रहा है। मैं डॉ० भूपाल सिंह जी (आगरा कॉलेज, आगरा) और उनकी पत्नी डॉ० अनुराधा का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मुझे 'वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों' और उनके रचना कर्म के प्रति आकृष्ट किया तथा समय-समय पर परामर्श प्रदान कर मेरे शोध-कार्य को सुगम बनाने में सहयोग दिया।

पूजनीय दादीजी श्रीमती प्रकाशी देवी और दादाजी श्री बचन सिंह जी का मैं हृदय से आभारी हूँ। ममतामयी माता श्रीमती राजकुमारी देवी की प्रार्थना एवं स्नेही पिता श्री रामअवतार सिंह के आशीर्वाद की शक्ति से मैं अपने शोध-कार्य को पूर्ण कर पाने में समर्थ हो सका हूँ। पूज्य दादी-दादा एवं माता-पिता के समक्ष नतमस्तक हूँ और ईश्वर से इनकी दीर्घ आयु की कामना करता हूँ।

पारिवारिक सदस्यों में अपने चाचाओं श्री देवेन्द्र सिंह, डॉ० अशोक कुमार के प्रति आभारी हूँ जिनका आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है। मैं अपनी चाचीओं श्रीमती सरोज देवी और श्रीमती अर्चना चौधरी के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ। जो समय-समय पर मेरे कार्य प्रगति के विषय में पूछती रहीं और मेरा उत्साह बढ़ाती रहीं। छोटे भाईयों प्रदीप, योगेश, वैभव, दिव्यांश और छोटी बहनों अनू, अन्जू, कविता, पूजा, कनिष्का मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने समय-समय पर मुझे शिथिल होने से बचाया।

हिन्दी विभाग में कार्यरत श्री सलमान साहब, श्रीमती (डॉ०) परवेज़ फातिमा, श्री बिशारत अली, श्री मिर्जा शकील बेग, श्री बहाब व शादाब के प्रति आभारी हूँ। जिनका सहयोग एवं समर्थन मेरे लिए अत्यंत लाभकारी रहा है।

मैंने अपने शोध-कार्य का अधिकांश समय अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के मौलाना आज़ाद पुस्तकालय तथा हिन्दी विभाग के संगोष्ठी कक्ष में व्यतीत किया तथा यहाँ की बहुमूल्य पुस्तकों से लाभान्वित हुआ। मौलाना आज़ाद पुस्तकालय में कार्यरत श्री नदीम एवं श्री पीर मोहम्मद का मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मित्रवत व्यवहार से मुझे शोध विषयक पुस्तकें उपलब्ध करायीं। मैं हिन्दी सेमीनार इंचार्ज डॉ० सैयद मुहम्मद माज़ का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने सेमीनार लाइब्रेरी की हर सम्भव सहायता प्रदान की।

शोध सामग्री एकत्रित करने में साहित्य अकादमी दिल्ली, जवाहर लाल नेहरू पुस्तकालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आगरा कॉलेज,

पुस्तकालय का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मैं वहाँ के कर्मचारियों के सहयोगपूर्ण व्यवहार हेतु उनका आभारी हूँ।

मैं डॉ० राधेश्याम, डॉ० रामपाल सिंह, डॉ० लोकेन्द्र यादव, समयपाल सिंह सिसौदिया, कुशलपाल सिंह, अभिनव चौहान, अरुण कुमार का आभारी हूँ। इनकी स्नेह छाया में रहकर मुझे समय-समय पर इनका सहयोग मिलता रहा। साथ ही चिंतन की नई दिशा भी प्रदान की।

मेरे विभागीय मित्रों में डॉ० कपिल कुमार राघव, दौलतराम, डॉ० मौ० अख़लाक, विनीत कुमार, पवन कुमार मिश्र, सचिन कुमार, दिनेश कुमार, अफज़ाल अहमद, मो० अवेस, प्रेरणा माहेश्वरी, रितेश शर्मा तथा प्रियंका का सहयोग एवं सुझाव मुझे मिलता रहा। मैं इनके प्रति भी आभारी हूँ।

मैं श्री हेमेन्द्र कुमार शर्मा के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने टंकण कार्य में व्यक्तिगत रुचि दिखाते हुए मेरे शोध-कार्य को समय पर पूर्ण करने में सहयोग दिया है और अन्त में उन समस्त जनों के प्रति आभारी हूँ जिनका आभार शब्दों में न व्यक्त कर सका पर सहयोग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मेरे साथ रहा है।

मेरा शोध कार्य यदि शोध की दिशा में नयी कड़ियाँ जोड़ सका तो मेरा श्रम सार्थक होगा और मैं स्वयं को धन्य समझूँगा। इस औपचारिकता के साथ अब मैं प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

Rajesh Kumar

राजेश कुमार

हिंदी विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

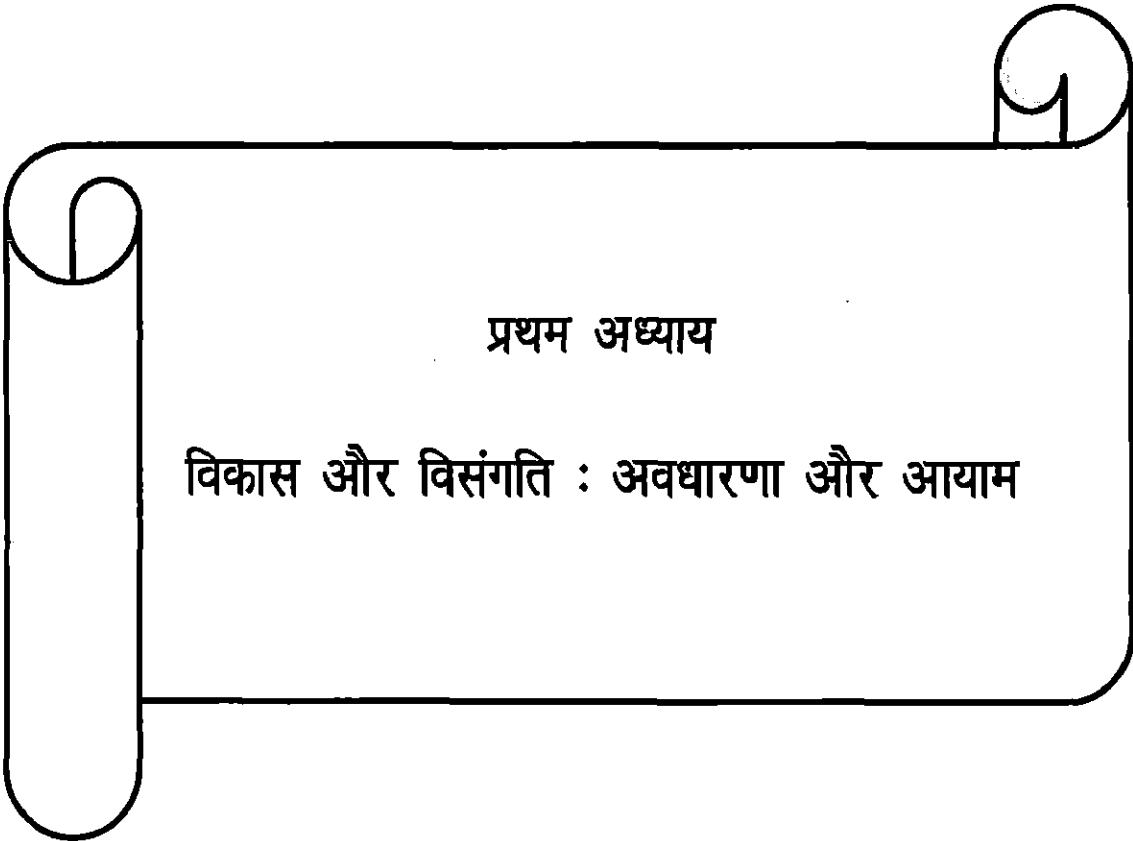
अलीगढ़

THESIS

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	:	i - v
अध्याय	:	पृष्ठ सं०
प्रथम अध्याय	: विकास और विसंगति : अवधारणा और आयाम	1 — 62
1.1	विकास की अवधारणा	
1.2	विकास के आयाम	
1.3	विसंगति की अवधारणा	
1.4	विसंगति के आयाम	
द्वितीय अध्याय	: भारत का विकास मार्ग और तद्जन्य विसंगतियाँ	63 — 130
2.1	भारत की विकास यात्रा और पिछले साठ साल	
2.1.1	संवैधानिक दिशा—निर्देश	
2.1.2	भारत की भाषा, धर्म और जातिगत संरचना	
2.1.3	पंचवर्षीय योजनाएँ	
2.1.4	अन्य शासकीय योजनाएँ	
2.1.5	निजी क्षेत्र का विकास	
2.1.6	भूमण्डलीकरण और उपभोक्तावाद	
2.2	विकास के द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में विसंगतियाँ	
2.2.1	सामाजिक क्षेत्र	
2.2.2	सांस्कृतिक क्षेत्र	
2.2.3	आर्थिक क्षेत्र	
2.2.4	राजनीतिक क्षेत्र	

तृतीय अध्याय :	वीरेन्द्र जैन का व्यक्तित्व और कृतित्व	131 — 157
चतुर्थ अध्याय :	वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की विसंगतियाँ	158 — 196
	4.1 सामाजिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप	
	4.2 सांस्कृतिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप	
पंचम अध्याय :	वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में आर्थिक और राजनीतिक विकास की विसंगतियाँ	197 — 227
	5.1 आर्थिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप	
	5.2 राजनीतिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप	
षष्ठम अध्याय :	उपसंहार	228 — 235
परिशिष्ट :		236—243
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची		
	: आधार ग्रन्थ	
	: सहायक ग्रन्थ	
	: अंग्रेजी ग्रन्थ	
	: पत्र—पत्रिकाएँ	
	: कोश ग्रंथ	



प्रथम अध्याय

विकास और विसंगति : अवधारणा और आयाम

विकास, प्रगति, परिवर्तन और आधुनिकीकरण यह सभी अवधारणाएँ सामाजिक अध्ययन क्षेत्र में लगभग समान मन्तव्य की सूचक हैं लेकिन इनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। विकास को दो भिन्न कालिक स्थितियों में सकारात्मक भेद का सूचक माना जाता रहा है। मानव इतिहास की रूपरेखा बताती है कि 'होम्योसेपियन सेपियन्स' के आविर्भाव के बाद उसने एक-एक करके तमाम तकनीकें खोजीं और विकसित कीं। इन तकनीकों की खोज के पीछे मूल मन्तव्य वे आवश्यकताएँ ही थीं जिन्हें मनुष्य ने अपने अस्तित्व की मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में महसूस किया। मनुष्य का आरम्भिक संघर्ष प्रकृति के प्रति रहा। जिसमें उसने प्राकृतिक संतुलन की अपनी परिभाषाएँ तैयार कीं और ये परिभाषाएँ लगातार बदलती रहीं। वर्तमान में मानवता बदलावों की प्रक्रिया से गुजरती हुई इस मोड़ पर आ गयी कि उसके द्वारा उठाये गये कदम आज मनुष्य के ही विरुद्ध खड़े दिखायी देने लगे। मानव इतिहास की इस पूरी रूपरेखा को समझने, व्याख्यायित करने के लिये समाजशास्त्रियों ने बहुत सी अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं। इन अवधारणात्मक पदावली को मुख्य रूप से विकास के दायरे में समेटने का प्रयास किया गया।

विकास के साथ एक आयाम जुड़ा हुआ है जिसमें वे सब परिघटनाएँ शामिल हैं जिन्हें वर्तमान चेतना की चिन्ताओं के रूप में देखा जाता है। ये सब की सब चिन्तायें विसंगति के रूप में दिखायी देती हैं। इन दोनों अवधारणाओं को विकास और विसंगति की अवधारणा के रूप में देखा और विवेचित किया जा सकता है। ये दोनों आनुषंगिक प्रक्रियाएँ हैं विकास एक आवश्यक शर्त है और मौजूदा स्वरूप विसंगतियों को जन्म दे रहा है।

1.1 विकास की अवधारणा :-

‘विकास’ आज का तत्कालीन मुद्दा है। यहाँ विकास का आशय आदिम समाज—व्यवस्था से न होकर आज की विकसित व विकासशील समाज—व्यवस्था के विकास से है। पूर्ववर्ती समाज—व्यवस्था को अधिक संभव मानवीय बनाने का प्रयत्न विकास की दशा व दिशा को निर्धारित करता है। ‘विकास की अवधारणा’ पिछले पाँच दशकों से मानवीय चिन्ता और विश्वव्यापी संवाद के केन्द्र में रही है। संसार के दो-तिहाई भाग के अवरूद्ध विकास और उससे उपजी दैन्य, भूख और असुरक्षा की समस्याओं पर अन्तहीन बहसें हुई हैं और उन्हें सुलझाने के कई मोहक उपाय सुझाए और आजमाए गए हैं। विकास का उपक्रम उत्तर औपनिवेशिक काल का एक सृजनात्मक अध्याय माना जाता है जिसकी शुरुआत दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद हुई। आज यह वैश्विक एजेंडा बन गया है। और शीघ्र ही इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग का रूप ले लिया है।

‘माइकल कोविन और रॉबर्ट डब्ल्यू० सेन्टन’ ने विकास को परिभाषित करते हुए कहा कि— “विकास परिभाषा का निषेध करता है क्योंकि विकसित में ही विकास निहित है।”¹ आधुनिक विकासवादियों का मानना है कि विकास का युग 1949 के बाद शुरू होता है जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 20 जनवरी 1949 के अपने भाषण में विकास के लिये ठोस वैश्विक प्रयासों की जरूरत को उद्धरित किया था। ‘आर्चुरो एस्कोवर’ के अनुसार— “ट्रूमैन के भाषण में विकास को व्यावसायिक और सांस्थानिक ढांचा प्रदान किया गया है।”² ट्रूमैन ने कहा था कि— “हमें विकासशील क्षेत्रों के सुधार के लिये वैज्ञानिक तरक्की और औद्योगिक प्रगति के कदमों का सहारा लेना होगा और नया कार्यक्रम तैयार करना होगा, दुनिया भर में आधे लोग गरीबी की हालत में जी रहे हैं उनके लिए खाना नहीं है वे बीमारी के शिकार हैं उनकी आर्थिक हालत आदिम और स्थिर है उनकी गरीबी एक विकलांगता है और यह उनके लिए तथा संवृद्ध क्षेत्रों के लिए खतरा है।

इतिहास में पहली बार मानवता को यह ज्ञान और दक्षता हासिल है कि लोगों को इन स्थितियों से मुक्त कर सके। मेरा विश्वास है कि हम अपने तकनीकी ज्ञान से इन लोगों के भीतर एक बेहतर जीवन की इच्छा भर सकते हैं।”³

इसके बाद दुनिया भर में विकास के दो ध्रुव बने समाजवादी विकास और पूँजीवादी विकास। दोनों ध्रुव एक शीत युद्ध की स्थिति को जीते हुए अपने-अपने इलाकों में अपने-अपने विकास के एजेन्डे लागू करते रहे। 1990 में आकर ‘यूनाइटेड नेशन्स डवलपमेन्ट प्रोग्राम’ ने मानव विकास का नारा दिया जिसमें कहा गया “लोगों की इच्छाओं की संवर्द्धन प्रक्रिया मानव विकास है।”⁴

पूँजीवादी विकास का चमत्कार सिंगापुर, ताइवान और दक्षिण कोरिया जैसे अपेक्षाकृत छोटे देशों में देखा गया; बड़ी जनसंख्या वाले अन्य विकासशील देशों में नहीं। साम्यवादी क्रान्ति का प्रयोग भी अन्ततः असफल रहा; सोवियत संघ का विघटन हो गया, पूर्वी यूरोप के देश उसके प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो गए और चीन ने भी मँझधार में महत्वपूर्ण नीति-परिवर्तन किए। इन देशों ने भी मुक्त बाज़ार का तर्क स्वीकार किया, अपनी अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया और भूमण्डलीकरण की दिशा में कदम बढ़ाए। भारत जैसे विकासशील देशों ने भी यही नीति अपनायी, पर उन्हें पग-पग पर कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। मैक्सिको के अर्थ-तंत्र को विकट वित्तीय संकट से गुजरना पड़ा, आज भी यह निश्चित नहीं है कि विशाल ऋण उसे निकट भविष्य में सीमित आत्मनिर्भरता भी दे सकेगा या नहीं। तीन-चार वर्ष के अनुभव के बाद भारत अपनी विकास-प्रक्रिया को अधिक मानवीय चेहरा देने पर पुनर्विचार कर रहा है। गरीबी और उससे जुड़ी समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील हुए बिना न जनतंत्र सम्भव है, न विकास।

आधुनिक युग के पूर्व के समय में विकास जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित था। आज विकास यह माना जाता है कि हमारे पास कितनी भौतिक सुख-संपदा है या हमने कितनी भौतिक उपलब्धियाँ हासिल कर ली हैं।

यह बात एक व्यक्ति के सम्बन्ध में भी लागू होती है एक समाज के सम्बन्ध में भी एवं एक राष्ट्र के सम्बन्ध में भी। विकास का आज कोई सर्वमान्य पैमाना दिखायी नहीं पड़ता, जिसको सभी जगह एक समान तरीके से लागू किया जा सके। अमेरिका या यूरोप के लिए जो विकास का मॉडल है वह भारत के लिए पूर्णतया सही नहीं हो सकता। इसी तरह भारत के बड़े शहरों के विकास के मॉडल पिछड़े या आदिवासी इलाकों के लिए पूर्णतया उपयुक्त नहीं हो सकते। आज विकास के क्षेत्र में ऐसा कोई कार्य नहीं दिख रहा है जिसने मनुष्य के सामने दूसरी कई तरह की समस्या न खड़ी की हों।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह बहस चल रही है कि हम विकास के लिए कुछ पैमाने तय करें कि क्या भौतिक विकास ही सब कुछ है और मनुष्य की प्रति व्यक्ति आय के बढ़ जाने या उसकी सुख सुविधाओं में वृद्धि हो जाने से ही विकास हो जाएगा। या इससे इतर भी कुछ महत्वपूर्ण है। अब यह माना जाने लगा है कि जैसे-जैसे व्यक्ति या समाज या राष्ट्र की गुणात्मकता में वृद्धि होती जाएगी उसका विकास होता जाएगा। इस प्रकार एक विवेकसंगत उपयोग भौतिक सुविधाओं के उपभोग में होने पर बल दिया जा रहा है।

विकास के प्रश्नों को सामान्यतः अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखा गया है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय की वृद्धि को विकास मान लेना भ्रामक है। पिछले पाँच दशकों में विश्व की आय में सात गुना वृद्धि हुई है। परन्तु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर इसका वितरण बहुत असमान रहा है। मानव जाति के उच्च पंचमाश को विश्व की आय के पाँच में से चार भाग प्राप्त हैं यह स्थिति उन्हें विकास के और भी अधिक अवसर देती है और इनका वर्चस्व स्थापित करती है। इस सम्पन्न वर्ग की आय 1960 से 1991 के बीच विश्व की आय का 70 प्रतिशत से बढ़कर 85 प्रतिशत हो गयी। दूसरे शब्दों में विश्व की शेष जनसंख्या को संसार की आय का $1/4$ भाग ही उपलब्ध है और उसका यह हिस्सा भी

निरंतर घट रहा है। संसार की सबसे गरीब 20 प्रतिशत जनसंख्या की आय का भाग 2—3 प्रतिशत से गिरकर 1.4 प्रतिशत ही रह गया है। समृद्धि और गरीबी का असंतुलन बढ़ रहा है।

आज बाज़ार का तर्क, उदारीकरण और भूमण्डलीकरण विकास के नए नारे बन गए हैं और उनमें अन्तर्निहित मंत्र—शक्ति द्वारा विकासशील देशों के कायाकल्प के कार्यक्रम बनाए जाने लगे हैं। लेकिन विकास की प्रक्रिया में इन नारों का योगदान सीमित रहा है। पश्चिम में भी गरीबी का उन्मूलन नहीं हुआ है। वहाँ भी आवासहीनता है, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्याएँ हैं। इससे अधिक गम्भीर है, पारिवारिक विघटन और सामाजिक सरोकारों के ह्रास की समस्याएँ। समाज में हिंसा बढ़ रही है। नैतिक मान्यताएँ स्थलित हो रही हैं, उपभोक्तावाद पनप रहा है। इससे स्पष्ट है कि आज तेज गति के आर्थिक विकास के पास इनका उत्तर नहीं है।

विकास की भारतीय और पश्चिमी अवधारणा में प्रारम्भ काल में कोई अंतर नहीं रहा होगा, सभी जगह ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया कमोबेश एक जैसी रही है। लेकिन आज अंतर दिखायी देता है। इसकी बुनियादी वजह यह है कि तकनीक के विकास ने दोनों में एक विषमता पैदा कर दी है। यह निर्विवाद है कि पश्चिमी जगत पिछले सौ—डेढ़ सौ वर्षों से तकनीक के विकास में भारत से बहुत आगे बढ़ गया है। तकनीक निश्चित रूप से मनुष्य के जीवन में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाती है। इसके विपरीत भारत में उपयुक्त टेक्नोलॉजी के सम्बन्ध में एक गतिहीनता बनी रही। इसके कई ऐतिहासिक कारण हैं, जैसे— हम आक्रमण और विदेशी शासन के शिकार रहे। विदेशी शासकों विशेषकर अंग्रेजों ने यहाँ उपयुक्त टेक्नोलॉजी का विकास नहीं होने दिया, इसके कारण भारत इस क्षेत्र में पिछड़ा रहा। इसके साथ ही उसके सामने बुनियादी जीने की शर्तें थीं जबकि

पश्चिमी जगत में मूलभूत जीवन की समस्याएँ पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से कभी नहीं रहीं। क्योंकि वहाँ टेक्नोलॉजी का विकास लगातार होता चला गया। इसके विपरीत भारत में एक ठहराव की स्थिति रही। पश्चिम ने भौतिक विकास को ही सच मान लिया। जबकि हम भारतीय अन्तर्मुखी रहे। क्योंकि जब बाहर ठहराव रहेगा, सामाजिक गतिशीलता बनी रहेगी, तो उसमें आदमी निश्चित ही अंतर्मुखी हो जाएगा एवं अपने को डिटैच्ड करने लगेगा।

यही कारण है कि कबीर से लेकर सभी प्रमुख संतों ने बाह्य वृत्ति की तुलना में आंतरिक विकास पर ही अधिक जोर दिया और आत्मतोष को ही चरम मूल्य मान लिया। इस प्रकार पश्चिम में बाह्य विकास की यात्रा रही और भारत में आंतरिक विकास की। इस संदर्भ में 'पूरनचंद्र जोशी' के विचार से सहमत होना पड़ता है— "जिस देश का वर्तमान में भौतिक जीवन नष्ट हो चुका हो और जिसका भविष्य भौतिक दृष्टि से अंधकारमय लगता हो, उसने भौतिक जीवन के पराभव और हीनता का सामना करने के लिए ऐसे जीवन-दर्शन की रचना की, जिसमें आत्मिक जीवन को शारीरिक जीवन से, मानसिक विकास को भौतिक विकास से और अंतर्जगत को वहिर्जगत से श्रेष्ठ माना गया। साथ ही ऐसे विश्वास का पोषण किया गया। कि यदि पश्चिम के देश भौतिक रूप से महान हैं, तो पूर्व के देश, विशेषकर भारत मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से महान हैं, यह एक ऐसी धारणा है जो भारतीयों की सबसे सशक्त मानसिक बेड़ी है। जो उन्हें सामाजिक रूप से जीवन संघर्ष में आज भी पंगु एवं अयोग्य बनाए हुए है।"⁵

आधुनिकता के पुजारी, बुद्धिजीवियों और राजनेता वर्ग ने अपनी तरह से विकास को परिभाषित किया है। परन्तु यह आश्चर्य और विषाद की बात है कि जो चर्चा होती रहती है। वाद-विवाद होता रहता है, गोष्ठियाँ होती हैं, प्रचार होते हैं और योजनाएँ बनती तथा क्रियान्वित होती हैं। उसमें कभी भी जनसाधारण की

सम्मति नहीं ली गयी, उनकी प्रतिक्रियाओं का जायजा नहीं लिया गया, और नहीं इसकी जरूरत ही समझी गयी। विकास पर चर्चा आवश्यक ही नहीं लाजिमी भी है। तत्पश्चात् विकास के भिन्न-भिन्न रूपों एवं उसकी विसंगतियाँ क्या हैं, इस पर भी चर्चा आवश्यक है।

‘विकास की अवधारणा’ को लेकर सामाजिक अध्ययन क्षेत्र में कई सारे मत हैं जैसे— परम्परागत भारतीय अवधारणा, नियतिवादी अवधारणा, ‘डार्विन’ की विकासवादी अवधारणा, पूँजीवादी अवधारणा, मार्क्सवादी अवधारणा और गाँधीवादी अवधारणा आदि। इन सभी मतों को सामने रखकर विकास पर चिन्तनों को देखा जा सकता है।

1.1.1 परम्परागत भारतीय अवधारणा

भारतीय परम्परा का विकास को लेकर एक सुविचारित रवैया रहा है। इसे हम बृहद रूपकों के भीतर बार-बार देखते आए हैं। बड़ी कथाएँ उस विकास के वाह्य दृष्टान्तर भर हैं पर उसके भीतर कुछ मूलभूत तत्व हैं जिनके आधार पर विकास की ‘परम्परागत भारतीय अवधारणा’ को समझा जा सकता है। पहले तत्व के रूप में हम भारतीय जीवन के लक्ष्य को ले सकते हैं— धर्म—अर्थ— काम—मोक्ष। मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है जो विकास की नियमावली या अनुशासन पैदा करता है। जीवन के सभी क्रिया—कलाप धर्म से आरम्भ होते हैं, यह परम्परागत भारतीय चिन्तन का सबसे वैज्ञानिक आयाम है। इस धर्म आधारित विकास को हम भले ही आध्यात्मिक श्रेणी में रखें पर यही भौतिक विकास का नियन्ता भी है। भारतीय समाज के स्थापत्य, आवासीय व्यवस्था, प्राकृतिक संसाधनों का उपभोग कोई भी पहलू हो, इसी धर्म से आच्छादित है। भारतीय चिन्तन की ‘सन्तोष की अवधारणा’ विकास के धर्म नियन्त्रित मध्यमवर्गीय स्वरूप को बताती है।

भारतीय चिन्तन के दूसरे पहलू 'इतिहास की अवधारणा' या 'काल की अवधारणा' पर धर्म के दायरे के भीतर ही विकास सम्बन्धी चिन्तन हुआ है। यहाँ इतिहास का चक्रीय स्वरूप या अवधारणा पायी जाती है— सतयुग—द्वापर—त्रेता—कलयुग। यह चक्र क्यों इस तरह चलता है, 'श्रीमद् भगवद्गीता' में ही कहा गया है — "यदा—यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।"⁶ समय—समय पर धर्म के क्षेत्र में ह्रास होता है उसके परिणामस्वरूप इतिहास में युग बदल जाते हैं। परम्परागत भारतीय अवधारणा में उसी तरफ लौट आने के चक्र ने विकास के मार्ग को हमेशा मध्यम मार्ग तक सीमित रखा है। 'विकास की अवधारणा' के तीसरे तत्व के रूप में सामाजिक व्यवस्था पर विचार होना चाहिए। मनुष्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त परम्परागत चिन्तन की देन है। भारतीय जाति व्यवस्था के ढाँचे का विकास परमात्मा के देह के विभिन्न हिस्सों से वैदिक साहित्य में ही पाया जाता है। इस ढाँचे को तोड़ना सम्भव नहीं है क्योंकि यह जन्मना है इसलिए इसमें विकास की सम्भावना कदाचित् नहीं है।

भारतीय सभ्यता को विकास के कई चरणों में देखा जा सकता है, पहला चरण है— सिन्धुघाटी सभ्यता का आरम्भिक इतिहास और विकास प्रक्रिया का शुरुआती काल हड़प्पा और वैदिककालीन समाजों में दृष्टव्य होता है। हड़प्पा नगर आधारित सभ्यता थी और प्रशासन तथा राजकाज की दृष्टि से विकसित मानी जाती थी जबकि आर्य सभ्यता गैरनगरीय सभ्यता होने के चलते प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने और बहुत कुछ संघर्ष तथा युद्ध करने में विकसित होती है। वैदिककालीन विकास प्रक्रिया को देखें तो आत्मिक उन्नयन और प्राकृतिक तदाकार, ये दो निर्देशक तत्व उसके केन्द्र में दिखायी देते हैं। वैदिककालीन मनीषा अपने अंतर्जगत् की पहचान के लिए व्यग्र दिखायी देती है। उसके सारे

मानव, कार्यकलाप और गतिविधियाँ मानव की भीतरी भित्ति की पहचान में सक्रिय दिखायी देती है। दूसरी ओर, प्राकृतिक ताकतों के प्रतिभय, जिज्ञासा और प्रार्थना का भाव एक बड़े प्रश्न के रूप में उनके समक्ष खड़ा है। विकास के प्रति उनकी समझ इन्हीं दो चुनौतियों से निर्मित होती प्रतीत होती है। आत्मिक अनुसंधान, जहाँ उन्हें मानव समाज के प्रशासन और आचरण तथा संगठन की ओर अग्रसरित करता है वहीं प्रकृति के साथ सम्बन्ध, उन्हें शक्ति आराधक एवं उपार्जक बनाता है।

‘शक्तिमत्ता और नैतिकता’ भारतीय समाज के पारम्परिक विकास चिन्तन के केन्द्र में आ जाते हैं। वैदिकयुगीन विकास प्रक्रिया मानव से इतर अन्य शक्तियों (देवताओं, प्रकृति) के द्वारा संचालित होती थी लेकिन इसे मानवीय शक्तियों के अधीन करने का उद्यम उस युग में लगातार बना रहा है। ‘डॉ० देवराज’ लिखते हैं— “मनुष्य में शक्ति सम्पादन की बलवती आकांक्षा है। आधुनिक युग में मनुष्य ने वैज्ञानिक बोध द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण स्थापित किया है।..... (लेकिन वैदिक युग में) ठीक अवसरों पर मंत्रों के ठीक उच्चारण द्वारा देवताओं को वश में किया जा सकता था और उन्हें मजबूर किया जा सकता था कि वे यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल दें। यह समझा गया कि यज्ञ विधानों तथा विशिष्ट फलों की प्राप्ति में यांत्रिक कार्य-कारण जैसा सम्बन्ध है।”⁷

ऐश्वर्य की तलाश और उसकी प्राप्ति का तरीका वैदिक मनुष्य की चिन्ता के केन्द्र में बना रहा। विकास सम्बन्धी सूत्रों को हम यहाँ देख सकते हैं। अपनी बेहतरी के लिए मानवीय उद्यम जिसमें देवताओं को विवश करने की क्षमता है— वैदिक युग के विकास सम्बन्धी नजरिए को प्रस्तावित करता है। वह भौतिक वस्तुओं के यज्ञ से अपने इष्ट को प्रसन्न करता है और इसके बदले अपनी भौतिक

समृद्धि की चाहत भी रखता है। इसलिए भारत के पारम्परिक विकास में भौतिकता का निषेध नहीं है परन्तु वह आत्मिक उन्नयन और आत्मसंयम से संचालित होता है। परम्परागत विकास की यह समझ उत्तर वैदिक कालों में खंडित होने लगती है और मानवीय ऊर्जा तथा समाज प्रभुत्वशाली कर्मकाण्डों की गिरफ्त में आ जाता है। आम जनों के अधिकार सीमित होने के साथ-साथ उत्पादन में उनकी भागीदारी कम होने लगती है।

कृषि व्यवस्था के विकास और स्थायी आवास के युग में विकास का आधार जमीन हो जाती है। जमीन पर आधिपत्य के लिए संघर्ष भी बढ़ जाता है। साथ ही, 'संतोष' जैसे मूल्यों का उदय भी होता है। इस युग में 'जमीनी आधिपत्य और संतोष' जैसे मूल्य ही विकास का मानक बनते हैं। इनमें से एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जमीन उत्पादों— जो मूलतः कृषि—कर्म का परिणाम होते थे, के सन्तुलित एवं आवश्यकतानुसार विभाजन पर खास बल दिया जाता था, 'भक्ति' का उदय भी इसी नैतिक विभाजन पर होता है। 'डॉ० सुवीरा जायसवाल' ने लिखा है— “ 'भक्ति' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ था 'अंश' या 'भाग' और 'भक्त' का अर्थ था जो 'अधिन्यस्त या समर्पित', 'वितरित अथवा बंटित' हो।”⁸ यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि केवल उत्पादन ही नहीं, उसका वितरण भी एक प्रमुख चिन्ता के रूप में इस काल में था। 'डॉ० जायसवाल' ने यह भी सिद्ध किया है कि—“ 'भक्ति' मूलतः भौतिक समृद्धि, भोज्य पदार्थों (भात) की खोज का ही प्रारम्भिक उपक्रम थी जो बाद में ईश्वरोन्मुख होती चली गई।”⁹

इस सन्दर्भ में 'महाभारत' को भी देखा जा सकता है। पाण्डवों के द्वारा पाँच गाँवों की माँग न्यूनतम जरूरत की पूर्ति हेतु 'संतोष' जैसे मूल्यों से परिचालित माँग थी। जब यह भी पूरी नहीं होती तो युद्ध होता है और अल्पशक्ति के सहारे भी पाण्डव विजयी होते हैं। यहाँ पारम्परिक विकास सम्बन्धी एक मूल्य

को भी पहचाना जा सकता है। उत्पादों और संसाधनों का असमान वितरण और उन्हें अपने आधिपत्य में करने की लिप्सा विकास को अवरुद्ध कर विनाश को जन्म देती है। 'महाभारत' बड़ी तफ्सील से परम्परागत विकास के इस नजरिए को प्रस्तावित करता है। इस युग में मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए कर्म—चातुष्ट्य की संकल्पना भी प्रकट होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सन्तुलित साधना ही मनुष्य को निजीतौर पर और एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में सुगठित कर सकती है— “महाभारत के शान्ति पर्व में विदुर जहाँ धर्म को, अर्जुन कर्म को, नकुल—सहदेव धन को, भीम काम को श्रेष्ठ बताते हैं वहीं युधिष्ठिर अनासक्ति पर बल देते हैं।”¹⁰ इस प्रकार 'परम्परागत विकास की अवधारणा' मानव की अभिलाषाओं के सन्तुलन पर टिकी है। वह भौतिक और गैर भौतिक ढंग में सीधे—सीधे विभाजित नहीं की जा सकती।

परम्परागत विकास की चिंतन प्रक्रिया बौद्ध—जैन काल में आकर नया आयाम ग्रहण करती है। धर्म जो ईश्वरोन्मुखी हो गया था वह गैर निरीश्वरवादी और मानव केन्द्रित होने लगा। बुद्ध ईश्वर के प्रति मौन थे। राजतन्त्र का विकास होने लगा था। राजा—प्रजा के सम्बन्धों और युद्ध—शान्ति जैसे मसले अहम् होने लगे थे। यही वह काल खण्ड है जब 'महात्मा बुद्ध और महावीर' ने बड़े सशक्त ढंग से अहिंसा जैसे मूल्य का प्रसार किया। शान्ति के बिना विकास संभव न था, इसलिए मानव जीवन को उन्नत करने के लिए युद्ध के बजाय शांति और अहिंसा पर बल दिया गया। जनतांत्रिक अधिकारों की माँग भी हुई। संघों ने व्यापक जन समुदाय के शिक्षण और जागरण पर बल दिया और उनके अधिकारों के सुनिश्चय का प्रयत्न किया। 'राधाकुमुद मुखर्जी' लिखते हैं कि —“भारतीय राजनीतिक विकास में संघों के उदय से आवश्यक जनतंत्रीय कार्य—पद्धति का भी विकास हुआ जिससे संघों का कार्य नियमित और प्रशासित होता था उस समय श्लाघनीय

लोकव्यापी लहर जनतंत्री मनोभाव एवं पद्धति के लिए फैल गई थी जिसके कारण राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी संघीय कार्य पद्धति से काम-काज का निर्वाह होने लगा।¹¹ इस प्रकार जनतांत्रिक अधिकारों का उदय होने से आम जनता की भागीदारी को और उसके विकास को सुनिश्चित करने का मौका मिला। वर्ण-व्यवस्था के प्रतिरोध और समानता की माँग भारतीय परम्परागत विकास प्रक्रिया में हमेशा दिखायी देती है। बौद्ध धर्म के विलोपन युग में जब 'शंकराचार्य' वर्ण-व्यवस्था के पोषक बने, तो दक्षिण से उठे भक्ति आन्दोलन ने इसका पुरजोर विरोध किया और 'कबीर' इसके सशक्त प्रवक्ता बने। मानव अधिकारों के प्रति एक तर्कपूर्ण आग्रह उनकी रचनाओं के केन्द्र में अनुस्यूत है।

भक्ति आन्दोलन दुनिया के एक बड़े आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। बंचित तबकों के भीतर आत्मविश्वास के संचार और असमानता पर उसका बल था। इस आन्दोलन में जहाँ 'कबीर' जैसे निर्गुण कवियों ने सामाजिक असमानता का विरोध किया वहीं 'तुलसी' जैसे रचनाकार राजा-प्रजा के सम्बन्धों को तलाशते रहे। मुगलों के आगमन से नई चुनौती भी बनी और विविधताओं के समाहार को पाने की आकांक्षा भी। स्त्री मुक्ति की अनुगूँज भी इस युग में मौजूद है, बाद में चलकर दरबारी संस्कृति का उदय होता है जो विकास की समतामूलक परिकल्पना को नकारकर दरबारी वैभव एवं अभिजात्य वर्ग की समृद्धि से जुड़ जाती है। विज्ञान के आगमन और नवजागरण काल में पारम्परिक विकास एक नया मोड़ लेता है। 'गाँधीजी' की विकास सम्बन्धी चिंताधारा में एक ओर परम्परागत विकास प्रक्रिया की साफ अनुगूँज है तो दूसरी ओर आधुनिक विकास मॉडल का सामंजस्य। आज भी गाँधीवादी विकास मॉडल प्रासंगिक बना हुआ है।

भारतीय विकास की अवधारणा में 'नियतिवाद' का अपना महत्व है। व्यक्ति के हिस्से में जो कुछ करना और भोगना रहता है, उसे नियति कहते हैं। नियति के ही अपर पर्याय दैव, विधि, भाग्य, ईश्वरेच्छा, भवितव्यता और प्रारब्ध हैं। विधि-लेख या ललाट-लेख से इसी का बोध होता है। भवितव्यता को ही 'होनी' कहते हैं, कभी-कभी इसी को 'कर्मगति' या 'कर्मगति' कहते हैं, पर दार्शनिक दृष्टि से कर्मगति और नियति में अन्तर है। 'नियतिवाद' वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार जो कुछ भी होता है या हो सकता है, वह सब नियति के अनुसार ही होता है। इसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक में मिलती है— "यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्म कर्म। तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च विद्यातृवशादुपैति।"¹² अर्थात् जिससे, जिसके, द्वारा, जैसे, जब कभी, जो कुछ, जितना, जहाँ शुभाशुभ कर्म होता है, उससे, उसके द्वारा, वैसा, तब, वह, उतना, वहाँ विधि के वश से ही होता है।

नियतिवाद या भाग्यवाद दैवी कारणवाद है। जैसे प्रकृति-जगत में वर्तमान विज्ञान के अनुसार सब घटनाएँ कार्यकारण की श्रृंखला में सुसम्बद्ध रहती हैं, वैसे ही दैववाद के अनुसार प्रकृतिजगत तथा नीतिजगत दोनों को कार्य-कारण की श्रृंखला में बाँधने वाला दैव या विधि है। प्राकृतिक घटनाओं या वस्तुओं की भांति मनुष्य के कर्म भी कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधे हैं। वेदों में इस दैवी विधान को 'ऋत' कहा गया और उसके गोप्ता को वरुण। वैशेषिक दार्शनिकों ने इस ऋत या दैवी विधान को ही अदृष्ट कहा और माना कि इसी अदृष्ट के कारण मौलिक परमाणुओं में गति आती है। जिसके फलस्वरूप वे संसार की रचना करते हैं और यही अदृष्ट मनुष्यों के जीवन का नियन्ता है। ईश्वरवादी दर्शनों में इसको ईश्वरेच्छा माना गया और इसका काम एक मात्र मनुष्य तथा अन्य जीवों के कर्मों का निर्धारण करने वाला माना गया। वह अपने इच्छानुसार ही लोगों या जीवों को फल

देता है और कर्म करवाता है। नियतिवाद प्रायः इसी दैववाद के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता है। “भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।”, ‘ईश्वरेच्छा बलीयसी’, ‘फलं भाग्यानुसारतः’, ‘होनी होके रही’ आदि उक्तियाँ नियतिवाद को पौरुषवाद या प्रयत्नवाद के विरोध में लाती हैं। इन सब परिस्थितियों को देखकर नियतिवाद, संयोगवाद, कर्मकालवाद और वैज्ञानिक कार्य-कारणवाद सबमें कुछ न कुछ दोष मिलते हैं। नियतिवादियों ने इन परिस्थितियों के कारण अपने दैववाद को कर्मवाद में बदल दिया।

कर्मवाद कोई यांत्रिक नियम नहीं है। वह अपने कर्मों का ही नियंत्रण है। इसी कारण यह हमारी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल नहीं है। हमारी स्वतन्त्रता के दो रूप हैं— (1) वरण की स्वतन्त्रता और (2) अपने कर्म के फल पाने की अनिवार्यता। वेदों को लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में नियतिवाद या कर्मवाद को किसी न किसी रूप में माना गया है। हिन्दी के संत कवियों ने (सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनों ने) नियतिवाद और कर्मवाद को स्वीकारते हुए उसे आध्यात्मिक जीवन का प्रेरक माना है। साधक या भक्त देखता है कि भगवत्कृपा के बिना उसके कर्मों के द्वारा उसे मोक्ष नहीं मिल सकता, इसलिए भक्त मीराबाई कहती हैं कि— “जिसने दैववाद या कर्मवाद का यह फल प्रत्यक्ष देख लिया कि विष का फल अमृत का स्वादन हो जाता है, वह भला क्यों अपने जीवन को भौतिकवाद में डुबोये रखेगा ?”

उपरोक्त विवेचन को देखने एवं उस पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि विकास की नियतिवादी अवधारणा से तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि का उद्भव, विकास एवं यहाँ निवास करने वाले सभी प्राणियों के कार्य-कलाप एवं उनकी परिस्थितियों को निर्धारित करने वाला ईश्वर है, मनुष्य जीवन के सारे कार्य-व्यापार उसी की इच्छानुसार चल रहे हैं। सृष्टि के विभिन्न रूप, पृथ्वी,

आकाश, पहाड़, नदियाँ, जंगल, हरियाली, जीव-जन्तु, कीट-पतंगे आदि का निर्माता यही ईश्वर है एवं इसी की मर्जी से सभी अपने-अपने स्वरूपों का विकास करते हुए वर्तमान रूप में दिखायी पड़ रहे हैं। प्राचीन काल के आदिम युग से लेकर आधुनिक युग के वैज्ञानिक विकास तक मनुष्य ने जो उपलब्धियाँ, एवं ऊँचाईयाँ हासिल की हैं वह सभी इसी दैवी-विधान के कारण सम्भव हुआ है। विकास की नियतिवादी अवधारणा इसी बात की ओर संकेत करती है।

भारतीय परम्परागत विकास की अवधारणा को आज के वैज्ञानिक तर्कसंगत और राजनीतिक जीवनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करना सम्भव नहीं है फिर भी भारतीय समाज का विकास इस तरह से हुआ है कि न तो इसे पूरी तरह स्वीकार किया जाता है और न ही नकारा जाता है।

1.1.2 'चार्ल्स डार्विन' की विकासवादी अवधारणा —

विद्यमान जगत में जो कुछ है वह इस प्रश्न के सन्दर्भ में कि ऐसा क्यों है? तमाम तरह से विचार हुआ और कई एक दर्शनों का जन्म हुआ। इसी प्रक्रिया में 'चार्ल्स डार्विन' ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यह सब विकास का परिणाम है। डार्विन ने 'विकासवाद' शब्द का प्रयोग वनस्पति और प्राणि वर्ग के सम्बन्ध में किया। व्यापक रूप से 'विकासवाद' का अर्थ है, वह मत जो प्रस्फुटन, व्यक्तिकरण, विकास में विश्वास करता है। आधुनिक विज्ञान से हमें नक्षत्रों और सौरमण्डल, पृथ्वी, अणुओं, समाजों, प्राणियों आदि तथा भाषा, धर्म, परम्परा और आदर्शों के विकास का ज्ञान प्राप्त होता है। 'चार्ल्स डार्विन' के 'विकासवाद' के बाद दर्शन, विचार, मानवता, राजनीति, अर्थव्यवस्था लगभग सभी क्षेत्रों में विकास को केन्द्र बिन्दु मानकर सोचने-समझने के नये तरीके सामने आये। डार्विन से पहले शायद

ही इन क्षेत्रों में विकास को आधार बनाकर विश्लेषण होते थे। अब हमारे प्रश्न वैसे नहीं रह गये थे जैसे विकास की इस अवधारणा के बाद हुए।

अठारहवीं सदी में कुछ वैज्ञानिकों ने विकास की क्रिया तथा जीवों के गुणों के वातावरण जनित परिवर्तनों के विषय में विचार प्रकट कर दिए थे। लेकिन पूर्णरूपेण विकासवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में ही हुआ। वर्तमान युग में सर्वप्रथम विकासवाद सिद्धान्त की स्थापना करने वाला फ्रांसीसी जन्तु वैज्ञानिक 'लैमार्क' (1749—1829 ई०) है। सन् 1809 ई० में इनकी 'फिलोसफिक जूलोजिक' (Philosophic Zoologique) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। उनके अनुसार प्राणि या व्यक्ति जिन गुणों को अपने जीवनकाल में अर्जित करता है। वे सन्तति में भी परिवहित हो जाते हैं। परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रिया इसी प्रकार होती है। इसके अन्तर्गत उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि — जिन अंगों और पेशियों का उपयोग होता रहता है, वे पुष्ट एवं विकसित होती हैं, जिनका उपयोग नहीं होता, वे क्षीण एवं दुर्बल हो जाती हैं। 'लैमार्क' ने व्यक्ति के प्रयास और इच्छा के महत्व को भी स्वीकार किया है। किन्तु इस सिद्धान्त का पर्याप्त साक्षी न मिलने से अधिकांश वैज्ञानिकों ने उसे त्याग दिया है।

आधुनिक विकासवाद के इतिहास में दूसरा एवं सबसे महत्वपूर्ण नाम 'चार्ल्स डार्विन' (1809—1882 ई०) का है। इन्होंने विकास के सब प्रमाणों को एकत्रित कर सर्वसाधारण का ध्यान विकास की ओर आकृष्ट किया, इतना ही नहीं इन्होंने विकास की संभव क्रिया के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए। इनके मतानुसार प्राणियों के प्राकृतिक निर्वाचन से विकास होता है। 'चार्ल्स डार्विन' की पुस्तक 'प्राकृतिक चयन द्वारा जातियों का विकास' (Origin of Species by Natural Selection) सन् 1859 ई० में प्रकाशित हुई जिसमें प्राकृतिक निर्वाचनवाद के विषय में इनका मत दिया गया है। डार्विन ने चार बातों पर बल दिया है —

- (i) **आनुवंशिकता** — इसमें बताया गया है कि समान माता-पिता से समान सन्तति की उत्पत्ति नहीं होती है। प्रकृति को अत्यंत उर्वरा करते हुए उन्होंने यहाँ तक कहा कि कुछ प्राणियों की वंशवृद्धि ज्यामितीय अनुपात में होती है।
- (ii) **परिवर्तिता** — इसके अन्तर्गत प्राणियों में व्यक्तिगत भेद होते हैं। ये भेद आंगिक कारणों अथवा संयोगजन्य होते हैं।
- (iii) **अस्तित्व के लिए संघर्ष** — इसके तहत वे कहते हैं कि सभी प्राणियों में जीवन के लिए संघर्ष होता है।
- (iv) **योग्यतम का अतिजीवित रहना** — इस सन्दर्भ में 'डार्विन' का मानना है कि सभी प्राणियों में जीवन के लिए जो संघर्ष होता है, उसमें योग्यतम प्राणी ही जीवित रह पाता है।

'डार्विन' का तर्क था कि— "प्राणियों की आवश्यकताओं की तुलना में प्रकृति के पास उनकी पूर्ति करने वाले साधन सीमित होते हैं, इसलिए प्रकृति इन साधनों की प्राप्ति के लिए जीवधारियों में संघर्ष को प्रेरित करती है, ताकि जो जीवधारी इस संघर्ष में अपने को योग्य एवं शक्तिशाली सिद्ध कर सकें वे ही इन साधनों को प्राप्त कर लें और जो प्राणी अयोग्य एवं दुर्बल हों वह नष्ट हो जाएँ जिससे कि प्रकृति का विशुद्धिकरण (Purification) होता रहे।"¹³

'स्पेन्सर' द्वारा इन सिद्धान्तों का जो सामाजिक पहलू प्रस्तुत किया गया था वह यह है कि— "संघर्ष और चयन की प्रक्रियाएं समाज में भी उसी प्रकार कार्य करती हैं जिस प्रकार प्रकृति के और क्षेत्रों में कार्य करती हैं। अन्तर केवल यह है कि सामाजिक सन्दर्भ में हम इन प्रक्रियाओं को प्रतिस्पर्धा (Competition) और चयन (Selection) के नाम से जानते हैं।"¹⁴

‘चार्ल्स डार्विन’ ने उदाहरण के तौर पर कहा कि एक तालाब में छोटी तथा बड़ी दोनों तरह की मछलियाँ होती हैं, इन दोनों समूहों में अपनी-अपनी उत्तरजीविता के लिए संघर्ष होता रहता है। और एक समय के पश्चात् बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। जिसके परिणामस्वरूप सिर्फ बड़ी मछली ही बच पाती है। उसने और भी कई जैविक समुदाय में विभिन्न घटनाओं से इस बात की पुष्टि की है।

‘डार्विन’ ने गली के कुत्ते का उदाहरण देते हुए कहा कि गली का कुत्ता यों तो अपनी गली में स्वयं का निर्वाह कर रहा होता है। वह नहीं चाहता है कि कोई दूसरा कुत्ता उसका हक मारे या अधिकार छीने। इसके लिए वह निरंतर संघर्ष करता है। जब तक वह योग्य है, तब तक ही उसकी उत्तरजीविता है। और अगर कोई कुत्ता उससे योग्य आ गया तो उसकी उत्तरजीविता खत्म हो जाती है। ‘डार्विन’ ने अपनी इसी जीवविज्ञानी अवधारणा के माध्यम से मानव समाज को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उसने कहा कि मानव सभ्यता के विकास की इस क्रमिक प्रक्रिया में वही आगे बढ़ पाएगा जो कि योग्य है।

‘डार्विन के विकासवाद’ के सिद्धान्त ने पश्चिमी पूँजीवादी विकास की अवधारणा और मनुष्य की विचारधारा पर गम्भीर और व्यापक प्रभाव डाला है। पाश्चात्य जगत में जहाँ डार्विन से पहले मनुष्य की उत्पत्ति एवं विकास के सन्दर्भ में प्राचीन एवं मध्यकालीन अवधारणा इसे ईश्वर से सम्बन्धित मानती थी। मनुष्य के सभी कार्यों एवं परिस्थितियों का नियन्ता जहाँ ईश्वर को मानते हुए उसकी कृपा एवं याचना प्राप्त करने में लगी थी, वहीं इस अवधारणा ने ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म और इलहाम आदि प्राचीन सिद्धान्तों को एक सिरे से नकार दिया एवं सभी कार्यों एवं स्थितियों के केन्द्र में मनुष्य को स्थापित किया। अब वही मनुष्य नियन्ता, उसके विकास एवं भविष्य की दिशा तय करने वाला बन गया।

यद्यपि डार्विन की यह अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण है, लेकिन मार्क्स की ही तरह डार्विन ने भी केवल एक तत्व 'योग्यता' को ही नियामक तत्व मान लिया। उसने मानव के इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य को जीव वैज्ञानिक तरीके से परिभाषित कर दिया। बाकी अन्य पक्षों को खारिज कर दिया। यही वजह है कि कालांतर में डार्विन की विकासवादी अवधारणा सुसुप्त पड़ गई। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्तों का प्रतिफलन ही विकास की 'पूँजीवादी अवधारणा' के रूप में हुआ।

1.1.3 पूँजीवादी अवधारणा —

पूँजीवाद पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में नयी व्यवस्था के रूप में उभरा। उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित एवं सामंतशाही के ध्वंस पर प्रतिष्ठित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद के नाम से प्रसिद्ध है। 'पूँजीवाद' शब्द की उद्भावना उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में इस अर्थव्यवस्था के समाजवादी आलोचकों ने की थी। यूरोप में प्रायः औद्योगिक क्रांति के समय से इस व्यवस्था का श्रीगणेश माना गया है। तत्कालीन समाज में पूँजी की सत्ता और महत्ता बढ़ जाने के कारण ही समाजवादियों ने इस नई अर्थव्यवस्था को पूँजीवाद की संज्ञा दी थी। कुछ लोग इस व्यवस्था को 'स्वतंत्र अनुष्ठान' तो कुछ लोग 'उपभोक्ताओं के लोकतंत्र का महीनय अभिधान' प्रदान करते हैं।

प्रारम्भ में इस व्यवस्था की उत्पत्ति दो निश्चित परिस्थितियों से हुई, पहली परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे हों, जिनके पास धन एवं उत्पादन के साधन हों। दूसरी परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे भी हों जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं हों, और जो अपनी श्रमशक्ति को मजदूरी लेकर बेच सकें। पूँजीवाद का उदय इन्हीं दोनों परिस्थितियों से होता है। इसी को कार्ल मार्क्स ने 'आरंभिक संग्रह'

अर्थात् 'ओरिजिनल एक्यूमुलेशन' की संज्ञा दी है। इस अवस्था में कृषकों का श्रमिकों में परिवर्तन हो जाता है। साथ ही साथ पूँजीवादी समाज अपने धन से इनके श्रम को खरीदना प्रारम्भ कर देता है। जिसके फलस्वरूप मजदूरों का उत्तरोत्तर शोषण बढ़ता है।

पूँजीवादी व्यवस्था के आरंभिक दिनों में पूँजीवादी मुल्क प्रतियोगिता के नियमों में विश्वास करता है। किन्तु जब पूँजीवाद का अधिक विकास हो जाता है। तो पूँजीवादी प्रतियोगिता दो परिस्थितियों को जन्म देती है। पहली परिस्थिति है वर्ग-संघर्ष। इसके अन्तर्गत श्रमिक और पूँजीपति में आंतरिक संघर्ष आरम्भ होते हैं। दूसरी परिस्थिति है अंतर्वर्गीय संघर्ष। इस परिस्थिति में स्वतः पूँजीपतियों में आपस में विरोध हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रतियोगिता में ऊँचा पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों को नष्ट कर देता है। इस प्रवृत्ति को कार्ल मार्क्स ने "पूँजीवादी-एकच्छत्रता" के नाम से अभिहित किया है।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था की तीन विशेषताएँ हैं —

1. **वस्तु उत्पादन अर्थात् 'कमोडिटी प्रोडक्ट'** — वस्तु उत्पादन पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत व्यापक हो जाता है। और विनिमय के लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में किया जाता है।
2. **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त अर्थात् 'थियरी ऑफ सरप्लस'** — इसके अनुसार पूँजीपति अनिवार्य रूप से श्रमिक का शोषण करता है और उसी से अपने लाभ की प्राप्ति करता है।
3. **मुक्तश्रम अर्थात् 'फ्रीलेबर'** — पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम इसलिए मुक्त और निर्बन्ध है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने श्रम को कहीं बेच सकता है। दासप्रथा में किसानों को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी।

व्यापार के पुनरुत्थान के साथ शहरों का विकास होता गया। पुराने शहर बड़े हो गये, शहरों की गति तेज हुई। नए भूभागों की खोज और उपनिवेशों की स्थापना के चलते सौदागरों ने अपने व्यापार का अभूतपूर्व विस्तार किया। उपनिवेशों के निर्माण के बाद उपनिवेशों के अधीन देशों के लोगों का धन लूटा गया। उदाहरण के लिए— 'इंका और एजटेक' सभ्यताओं के खजाने को स्पेन वासियों ने लूटा। अमेरिका की खानों में जहाँ सोने-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ थीं, उनका दोहन किया गया एशिया के उपनिवेशीकरण से ही इसी तरह की तबाही और बर्बादी हुई। अंग्रेजी सरकार के लूट के कारण सन् 1769-70 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। जिसमें बंगाल की एक चौथाई आबादी काल के गाल में चली गयी। इस तरह से अधिक लाभ के लिए, धन के निवेश के लिए यूरोप में अपार संपत्ति संचित की गयी। कार्ल मार्क्स के शब्दों में— 'यूरोप के बाहर से खुली लूट-खसोट से, लोगों को गुलाम बनाने से और लोगों की हत्या करके जो खजाना यूरोप के देशों में लाया गया उसे पूँजी में तब्दील कर दिया गया।'¹⁵

पूँजीवादी विकास ने मनुष्य को अधिक गतिशील बनाया तथा उसके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन लाने में मदद की। गाँव के किसान व मजदूर वर्ग शहर के उद्योगों में श्रम देकर बदले में नकद रकम प्राप्त करने लगे, इससे उनकी जीवन पद्धति में बुनियादी अंतर हो गया। परन्तु लाभ पर आधारित इस व्यवस्था ने उनको अधिक स्वतंत्रता देने के बजाय दूसरी तरफ की कष्टदायक स्थिति में ला दिया। समानता के बजाय इन औद्योगिक देशों से अपने यहाँ निर्मित सामानों को बेचने के लिए कमजोर देशों को उपनिवेश में बदलने लगे। खासकर तीसरी दुनिया के देशों और अमेरिकी देशों को। ये कमजोर देश औद्योगिक देशों के विकास के लिए कच्चे माल के आपूर्ति-कर्ता भी थे और उनके यहाँ के तैयार सामग्री के विक्रय हेतु मंडी भी। इस प्रकार समानता और भाईचारा जैसा पूँजीवाद का नारा

खोखला साबित होने लगा। 'लेनिन' ने सन् 1916 में लिखा था कि— "पूँजीवाद जितना ही विकसित होता है, कच्चे माल की कमी उतनी ही तीव्रता के साथ अनुभव होने लगती है। होड़ तथा सारी दुनिया में कच्चे माल के स्रोतों की खोज जितना ही उग्र रूप धारण करती जाती है। उपनिवेशों को हथियाने का संघर्ष उतना ही ज्यादा प्रचंड होने लगता है।"¹⁶

औद्योगिक पूँजीवाद के शुरू के दिनों में कल-कारखाने आदि बहुत छोटे होते थे, प्रायः उनके स्वामी एक ही परिवार के कुछ सदस्य या साझीदारों की एक छोटी सी संख्या हुआ करती थी उस जमाने में छोटे कल-कारखानों को शुरू करने में ज्यादा पूँजी भी नहीं लगती थी, चंद साझीदार आसानी से छोटी पूँजी जमा कर लेते थे। लेकिन जैसे-जैसे नई मशीनें ईजाद होती गईं वैसे-वैसे कारखाने खोलने के लिए ज्यादा पूँजी की आवश्यकता होने लगी। इसके साथ ही दूसरी ओर कारखानों के बने माल की खपत उतनी ही घटती जा रही थी। पहले ब्रिटेन में ऐसा हुआ फिर दूसरे देशों में इसलिए कल-कारखानों के आकार भी बहुत तेजी से बढ़ते गए, दिनों-दिन बड़े कारखाने बनने लगे, रेल और समुद्री जहाजों के आविष्कार से पहले लोहे और फिर इस्पात के उद्योग बढ़े, जिनके लिए और भी बड़े आकार के कारखाने बनाने पड़े। इस प्रकार बड़े एवं छोटे उद्यमियों की होड़ के कारण बहुत से छोटे कारखाने ठहर नहीं सके। वे या तो बंद हो गए या अपने से शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वियों के हाथों में बिक गए।

इस प्रकार एक दोहरी प्रक्रिया बराबर चल रही थी : उत्पादन अधिकाधिक बड़े कारखानों में केन्द्रित हो रहा था और अधिकाधिक धनी लोगों की एक छोटी सी संख्या दिनों-दिन उत्पादन के और ज्यादा भाग पर हावी होती जाती थी। 'काल मार्क्स' ने कहा था कि इस प्रक्रिया का अवश्यभावी परिणाम यही होगा कि स्वतंत्र प्रतियोगिता का स्थान एकाधिकार ले लेगा, जिसे वह 'कैपिटलिस्ट

मोनोपॉली' कहते हैं। मार्क्स की स्थापनाओं को विकसित करते हुए 'लेनिन' कहते हैं कि "पूँजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था, निश्चित रूप से अपने हाथ एक ओर तो बड़े-बड़े आर्थिक संकट तथा विश्वव्यापी युद्ध लाती है, दूसरी ओर मजदूर क्रांतियाँ लाती है तथा साम्राज्यी शोषण के खिलाफ उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशों की शोषित जनता के विद्रोह को जन्म देती है।"¹⁷

'एमेन्युएल वालेरस्टाइन' के अनुसार— "पूँजीवादी विश्व अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की तीन शर्तें होती हैं — विश्व के भौगोलिक आकार में वृद्धि; विश्व अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न कटिबन्धों में विभिन्न उत्पादों में श्रम-नियंत्रण की बहुवर्णी विधियाँ; और पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय राज्यों में सशक्त तंत्रों का निर्माण। क्रिस्टोफर कोलम्बस और वास्कोडिगामा जैसे साहसिक खोजियों ने राज्यसत्ता और नयी प्रौद्योगिकी की सहायता से संसार के नए-नए भागों की खोजकर और उन्हें ज्ञात विश्व से जोड़कर विश्व के आकार को बढ़ाया।"¹⁸

'लेनिन' ने पूँजीवाद पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि — "पूँजीवाद की चरम स्थिति साम्राज्यवाद है तथा यह पूँजीवाद का एकाधिकार स्थापित करता है।"¹⁹

विकास के पूँजीवादी मॉडल ने व्यक्ति और समाज के विभिन्न स्तरों को तरह-तरह से प्रभावित किया। भारतीय विकास के उदाहरण के रूप में इसे देखा जा सकता है। इसके आधार पर पूँजीवादी विकास की अवधारणा को व्यक्त किया जा सकता है —

- (i) पूँजी का निजीकरण पूँजी के संकेन्द्रण को जन्म देता है फलतः गरीबी और अमीरी की खाई बढ़ती है।
- (ii) प्रतिस्पर्धा व्यक्तिगत अजनबियत को जन्म देती है।

- (iii) कल्याणकारी राज्य का विकास समाज में विद्रोह की सम्भावनाओं को तुष्ट करते हुए यथास्थितिवाद को बनाये रखता है।
- (iv) जनतान्त्रिक संस्थाओं का विकास जो कि प्रकारान्तर से 'ताकतवरों' के पक्ष में व्यवस्था को सुनिश्चित करता है।

'एरिक फ्राम' ने लिखा है कि—“पाश्चात्य पूँजीवादी सम्पन्न समाजों में व्यक्ति अपने को दिशाहीन (Directionless) और उखड़ा हुआ अनुभव कर रहा है। उसके जीवन में अर्थहीनता की एक ऐसी भावना पैदा हो गयी है जिसने उसके व्यक्तित्व को असन्तोष से भर दिया है। अत्याधिक भीड़भाड़, मशीनीकरण और बनावटीपन ने उसके मानसिक स्वास्थ्य एवं सन्तुलन को बिगाड़ दिया है और अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न कर दिये हैं। विश्व के इस भाग के व्यक्ति सम्पन्नता से ऊब गये हैं और एक प्रकार की मानसिक घुटन का अनुभव कर रहे हैं। वे मानसिक संतोष और शान्ति के लिए भाग-भाग कर पूर्वी विश्व के ऐसे देशों में जा रहे हैं जहाँ का वातावरण आज भी अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण है और जहाँ आध्यात्मिकता अभी भी विद्यमान है। पश्चिमी देशों में जिस संस्कृति का विकास हुआ है उसने वस्तुओं के मूल्य को बढ़ा दिया है और व्यक्तियों के मूल्य को घटा दिया है। भौतिकवाद पर अधिक बल होने के कारण जीवन का आध्यात्मिक और आदर्श पक्ष दब कर रह गया है और यही इन देशों के नागरिकों के मानसिक असन्तोष का सबसे बड़ा कारण है।”²⁰

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि विकास की पूँजीवादी अवधारणा में मनुष्य के श्रम का स्थान मशीनों ने ले लिया तथा पूँजी की उपलब्धता उत्पादन के लिए अनिवार्य हो गयी। तकनीक आधारित मशीनों और उपनिवेशों से प्राप्त संसाधन एवं पूँजी की उपलब्धता ने यूरोप में बड़े पैमाने पर

उत्पादन को सम्भव बनाया। जिसमें भौतिक प्रगति विकास की 'पूँजीवादी अवधारणा' की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। मुनाफा कमाना विकास की इस अवधारणा की पहली शर्त थी चाहे वह किसी भी माध्यम से क्यों न कमाया जाय। इससे यूरोप के लोगों का जीवन स्तर तेजी से सुधरा, परन्तु साथ ही इसने मनुष्य की मानवीयता, उसकी संवेदना, धर्म, नैतिकता आदि मानवीय मूल्यों को क्षरित भी किया। प्रकृति के संसाधनों का अंधाधुंध दोहन विकास की इस प्रणाली ने किया। जिसके दुष्परिणाम आज बड़े भयावह रूप में पूरे विश्व में दिखायी पड़ रहे हैं।

1.1.4 मार्क्सवादी अवधारणा —

किसी भी ऐतिहासिक बिन्दु पर सामाजिक संरचना दो भागों में बँटी होती है एक आधार संरचना, दूसरी अधिरचना। आधार संरचना निर्धारक का काम करती है और अधिरचना उसका प्रतिफलन होती है, यह सीधे-सीधे नहीं होता बल्कि दोनों के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध पर आधारित होता है। इस आधार पर मार्क्स ने पूरे सामाजिक इतिहास को व्याख्यायित किया है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स द्वारा दिए गये समाज तथा इतिहास के सिद्धान्त का नाम है। इसका आधार काल्पनिक नहीं प्रत्युत् उन ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है जो मानव इतिहास की गतिविधियों को निर्धारित करते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद में मार्क्स इस प्रश्न का उत्तर देता है कि वह कौन सा भौतिक प्रभाव है जो इतिहास की घटनाओं का संचालन व नियमन करता है। मार्क्स के अनुसार "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के तरीके सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की समूची प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं।"²¹ मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस खोज ने विश्व-इतिहास के दृष्टिकोण में अमूल-चूल परिवर्तन ला दिया। उसने इतिहास को विज्ञान बना दिया। उसका

विचार था कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचों में परिवर्तन वस्तुगत नियमों से होता है और वस्तुगत नियमों के कारण ही एक सामाजिक-आर्थिक ढाँचा दूसरे की जगह लेता है। मार्क्स इस विचार से सहमत नहीं था कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के निर्धारण में भौगोलिक पर्यावरण या जनसंख्या का योगदान होता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि भौगोलिक पर्यावरण और जनसंख्या मानव इतिहास के तथा मानवीय सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं के निर्णायक कारण नहीं हैं। तो वह कौन सी शक्ति है जो कि ऐतिहासिक घटनाओं-सांस्कृतिक व्यवस्था, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक संस्थाओं तथा ऐतिहासिक विचारों का निर्धारण करती है। मार्क्स के अनुसार "यह शक्ति, मानव-अस्तित्व के लिए आवश्यक जीवन के साधनों को प्राप्त करने की प्रणाली अर्थात् भौतिक मूल्यों (भोजन, कपड़ा, मकान, उत्पादन के उपकरण आदि) की उत्पादन प्रणाली है। उत्पादन प्रणाली ही ऐतिहासिक घटनाओं का निर्धारण करती है। समाज में जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली रही है, इतिहास के दौर में उसी प्रकार के समाज का भी (साम्यवादी, दासत्व, सामन्तवादी, पूँजीवादी) निर्माण हुआ है।"²²

'ए०आर० देसाई' लिखते हैं - "इतिहास का निर्माण करने में समर्थ होने के लिए मनुष्य जीने की स्थिति में तो होना ही चाहिए। पर जीवन के लिए सबसे पहले जरूरी है- खाना-पीना, निवास-स्थान, कपड़े तथा और भी कई चीजें। इसलिए इतिहास का पहला कार्य तो स्वयं भौतिक जीवन का उत्पादन ही है। यह सचमुच इतिहास का कार्य है- सारे इतिहास की मूलभूत शर्त जो मानव-जीवन को बनाए रखने के लिए हजारों साल पहले की ही तरह आज भी हर दिन और हर घंटे पूरी होनी चाहिए।"²³

मार्क्स के अनुसार उत्पादन-प्रणाली के दो पक्ष होते हैं— पहला उत्पादक-शक्ति (जो कि उत्पादन के उपकरण, श्रमिक और उत्पादन अनुभव, श्रम कौशल से मिलकर बनती है) और दूसरा उत्पादन के सम्बन्ध। इस सन्दर्भ में 'पॉल स्वीजी' का कथन बड़ा सटीक है— "ऐतिहासिक भौतिकवाद सबसे बढ़कर तो एक पद्धति है जिसका नज़रिया सामाजिक प्रश्नों के प्रति सूत्रों के एक सेट जैसा नहीं है। इस नज़रिए का सार है — उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच के अंतर्विरोधों की जाँच।"²⁴ मार्क्सवाद के महत्व को रेखांकित करते हुए 'श्यामाचरण दुबे' कहते हैं — "मार्क्सवादी दृष्टि भी वस्तुतः विकासवादी और रैखिक है; इसमें आदिम साम्यवाद से वर्गहीन समाज के अंतिम रूप की दिशा में परिवर्तन निरूपित है। इस प्रक्रिया में पूँजीवाद एक आवश्यक और यहाँ तक कि एक वांछित चरण है, हालांकि मानवता की प्रगति वहीं पर नहीं ठहर जाती है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज की व्यवस्था को निर्धारित करते हैं और उसके आंतरिक अंतर्विरोध समाज को एक स्थिति से दूसरी ऊँची स्थिति में ले जाते हैं अपने अंतर्विरोध का समाधान न कर पाने के कारण पूँजीवादी व्यवस्था टूटकर साम्यवादी व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित होगी और वर्ग के अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर स्थिर और स्थायी हो जाएगी।.... यद्यपि मार्क्स भी कुछ अर्थों में यूरोप केन्द्रित हैं। लेकिन उसकी विचारधारा सार्वभौमिक महत्व रखती है।"²⁵

उत्पादन प्रणाली की पहली महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह किसी भी अवस्था में अधिक समय तक स्थिर नहीं रहती, अपितु सदा परिवर्तनशील तथा विकास की दिशा में उन्मुख रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें परिवर्तन और विकास तभी सम्भव है जब उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन और विकास होता है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में— "उत्पादन में मनुष्य केवल प्रकृति के प्रति ही नहीं बल्कि एक दूसरे के प्रति भी क्रियाशील होता है। किसी न किसी तरह से सहयोग

करते हुए आपस में आदान-प्रदान द्वारा ही वे उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए उन्हें परस्पर मिलना तथा एक-दूसरे से निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। और केवल इन्हीं सामाजिक मिलन तथा सम्बन्धों के अन्तर्गत ही उत्पादन-कार्य सम्पादित होता है।²⁶

उत्पादन प्रणाली की तीसरी विशेषता यह है कि नवीन उत्पादक शक्तियों तथा उससे सम्बन्धित उत्पादन के सम्बन्धों का उत्स पुरानी व्यवस्था के गर्भ से ही होता है। मार्क्स के कहने का अभिप्राय है कि जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो उसके परिणामस्वरूप एक नवीन व्यवस्था का जन्म होता है। अब तक उत्पादन के साधनों पर पुराने वर्ग का आधिपत्य होता है। उनके द्वारा नये वर्ग का शोषण किया जाता है। नवीन वर्ग की यह दयनीय दशा या उसका सामाजिक अस्तित्व उनमें विशिष्ट प्रकार की चेतना को जन्म देता है — “मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।”²⁷

‘टॉम वाटोमोर’ लिखते हैं— “मार्क्स ने उत्पादन विधि में परिवर्तन, वर्गों के गठन और वर्गों के संघर्ष के रूप में मानवीय समाज की खास तौर पर आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास की कारणभूत व्याख्या की जिसे ऐतिहासिक नियम कहा जाता है। पूँजीवाद के आवश्यक विनाश और समाजवाद की ओर संक्रमण के निष्कर्ष भी इन नियमों से निकाले गये हैं।”²⁸

अतः समाजवादी विकास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक प्रकार का भौतिकवादी ‘नियतिवाद’ नहीं है। इस सम्बन्ध में ‘एमिल बर्न्स’ का मानना है — “उसका कहना यह नहीं है कि केवल भौतिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य के कार्यों को पूरी तौर पर निश्चित करती हैं। इसके विपरीत मनुष्य के कार्य और इन कार्यों से

उत्पन्न हुए भौतिक परिवर्तन एक हद तक तो मनुष्य के बाह्य भौतिक संसार की उपज होते हैं, और एक हद तक वे मनुष्य के अपने इस ज्ञान के फलस्वरूप होते हैं, कि भौतिक संसार का नियंत्रण किस प्रकार किया जाए। लेकिन यह ज्ञान भी मनुष्य को भौतिक संसार के अनुभव से ही प्राप्त होता है। अतः कहा जा सकता है कि पहले भौतिक संसार आता है और मनुष्य का अनुभव जन्य ज्ञान बाद में।”²⁹

कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति ‘पूँजी’ में पूँजीवादी अर्थतंत्र की गति के नियमों का उद्घाटन किया। इसमें उन्होंने इसकी उत्पत्ति के ऐतिहासिक कारकों, विकास के सिद्धान्तों तथा उसमें व्याप्त अन्तर्विरोधों और उसके हितों के अनुरूप कायम सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं एवं विचारों का वस्तुपरक विश्लेषण किया। पूँजीवादी अर्थतन्त्र की कमियों और कमजोरियों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने ‘अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त’ का प्रतिपादन किया। पूँजीवाद की उत्पत्ति की दो प्रमुख शर्तें हैं —

- (i) श्रम के साधनों का पूँजी के रूप में चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रीकरण।
- (ii) जनता के बहुसंख्यक भाग का जीवन-निर्वाह के साधनों से वंचित होना।

विनिमयविहीन अर्थव्यवस्था के स्थान पर माल-उत्पादन की व्यवस्था क्षीण रूप से सामंती समाज के भीतर ही उत्पन्न हुई। इसकी मुख्यतः तीन अवस्थाएँ हैं— (1) व्यापारी पूँजी (2) मैन्यूफैक्चरिंग और (3) मशीनी उत्पादन तथा औद्योगीकरण।

व्यापारी पूँजी ने सामंतवाद के पराभव का मार्ग प्रशस्त किया। बिचौलिए व्यापारियों ने दस्तकारों से उनका माल खरीदने के साथ उन्हें कच्चे माल तथा कर्ज देना आरम्भ किया। इससे दस्तकार व्यापारियों के कर्ज के बोझ तले दबकर

बर्बाद हुए। व्यापारियों ने ऐसे दस्तकारों को कार्यशालाओं में लगाया और स्वयं मालिक बन बैठे। पूर्व के स्वाधीन दस्तकार उनके दास हो गये। अब वे अपने लिए नहीं बल्कि अपने मालिकों के लिए कार्य करने लगे। उनके पास अपना श्रम बेचने के सिवा कुछ नहीं बचा।

आगे चलकर मैन्यूफैक्चरिंग की अवस्था कायम हुई। इससे तकनीकी आविष्कारों का विकास हुआ और औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न हुई। शारीरिक श्रम के स्थान पर मशीनी उत्पादन के विकास से सामंतवाद का पराभव और पूँजीवाद की विजय सुनिश्चित हुई। साथ ही पूँजी के निर्माण और विकास में जन-जीवन पर घोर पैशाचिक बल प्रयोग, लूट, जालसाजी व धोखाधड़ी के कृत्य भी सुविदित ऐतिहासिक तथ्य हैं। यह सब पूँजी के आद्य-संचय की प्रक्रिया के अन्तर्गत हुआ। मार्क्स लिखते हैं कि— “चर्च की सम्पत्ति की लूट, राज्य के इलाकों पर धोखाधड़ी से कब्जा कर लेना, सामूहिक भूमि की डाकाजनी, सामन्ती सम्पत्ति तथा कबीलों की सम्पत्ति का अपहरण और आतंकवादी तरीकों का अंधाधुंध प्रयोग करके उसे आधुनिक ढंग की सम्पत्ति में बदल देना ये ही वे सुन्दर तरीके हैं जिनके जरिये आदिम-संचय हुआ था।”³⁰

अन्यत्र मार्क्स लिखते हैं— “जब पूँजी संसार में आती है तब उसके सिर से पैर तक प्रत्येक छिद्र से रक्त और गन्दगी बहती रहती है।”³¹ पूँजीपति वर्ग ने दुनिया में पूँजी का साम्राज्य कायम करने के लिए मानवीय आचरण के समस्त प्रतिमानों एवं नैतिक मूल्यों को ध्वस्त कर डाला।

मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इतिहास में वर्गों की उत्पत्ति के साथ ही वर्ग-संघर्ष आरम्भ हो गये। निजी सम्पत्ति पर आधारित सभी वर्ग-विभक्त समाजों में वर्ग-संघर्ष हुए हैं। ‘मार्क्स एवं एंगेल्स’ लिखते हैं— “स्वतंत्र

मनुष्य और दास, पेद्रीशियन और प्लेबियन, सामन्त और भू-दास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर-संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आये हैं।”³² समकालीन पूँजीवादी समाजों में भी न तो वर्गों के अस्तित्व का लोप हुआ है और न वर्ग-संघर्ष का ही। आज भी वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष एक सामाजिक यथार्थ है। ‘कम्युनिस्ट घोषणापत्र’ में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है— “अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।”³³ मार्क्स तथा एंगेल्स लिखते हैं— “आधुनिक पूँजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को खत्म नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नयी अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिये हैं।”³⁴ मार्क्स ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की उपलब्धियों की रोशनी में वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को और अधिक विकसित किया तथा उसे सामाजिक यथार्थ से जोड़कर देखा। मार्क्स लिखते हैं— “मैंने जो नयी चीज की, वह यह सिद्ध करना था कि —

- विभिन्न वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास के किसी ऐतिहासिक क्रम-विशेष के साथ ही जुड़ा हुआ होता है।
- वर्ग-संघर्ष का चरमोत्कर्ष आवश्यक रूप से सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व होता है।
- अधिनायकत्व की यह अवस्था अपने आप में सभी वर्गों के उन्मूलन और वर्गहीन समाज की ओर संक्रमण करने की अवस्था होती है।”³⁵

इतिहास के वर्तमान चरण में पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के उन्मूलन का अर्थ वर्ग-संघर्ष का अन्तिम रूप से उन्मूलन है। पूँजीवादी समाज का विकास न सिर्फ वर्गों के उन्मूलन की परिस्थिति एवं उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता का

सृजन करता है बल्कि इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ सामाजिक शक्ति को भी पैदा करता है, वह सामाजिक शक्ति सर्वहारा-वर्ग है। मार्क्स लिखते हैं— “पूँजीपति वर्ग ने ऐसे हथियारों को ही नहीं गढ़ा है जो उसका अन्त कर देंगे, बल्कि उसने ऐसे आदमियों को भी पैदा किया है जो इन हथियारों का इस्तेमाल करेंगे, वे हैं आज के मजदूर, आज का सर्वहारा-वर्ग।”³⁶ “अतः पूँजीपति वर्ग सर्वोपरि अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।”³⁷

‘एंगेल्स’ ने लिखा है— “यह संघर्ष अब उस मंजिल में पहुँच चुका है जहाँ शोषित तथा उत्पीड़ित-वर्ग पूरे समाज को शोषण, उत्पीड़न तथा वर्ग-संघर्ष से मुक्त किये बिना उत्पीड़न तथा शोषण करने वाले वर्ग (पूँजीपति वर्ग) से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।”³⁸

मार्क्स की धारणा थी कि— “समाज में धनी वर्ग अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होते जा रहे हैं। परन्तु अन्त में समय आने पर बहुमत में होने पर निर्धन धनी वर्ग को हटाकर एक नये समाज की रचना करेंगे। निर्धन वर्ग, जिसे सर्वहारा वर्ग कहते हैं, वह लड़ाकू होगा और एक अन्तिम क्रान्ति होगी, जिसके परिणामस्वरूप धनी वर्ग या पूँजीपति वर्ग समाप्त हो जायेगा और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।”³⁹ वस्तुतः स्थायी एवं सार्थक सफलता उसी को मिलती है जो इतिहास संगत एवं मानवता के व्यापक हितों से जुड़ा हो। इतिहास का तर्क सर्वहारा वर्ग के पक्ष में है। वह समग्र मानवता की मुक्ति का पक्षधर है, फलतः उसके पक्ष में भौतिक बल भी है और नैतिक शक्ति भी।

भारत में मार्क्सवादी चिन्तन को मानने की परिपाटी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पैदा हुई। जिसके तहत भारतीय इतिहास, भारतीय चिन्तन परम्परा, भारतीय

सामाजिक चिन्तन के विकास को समझने-समझाने की कोशिश हुई। स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास को व्याख्यायित करने की मार्क्सवादी परम्परा का चिन्तन के क्षेत्र पर अच्छा-खासा दबदबा रहा। दर्शन के क्षेत्र में डी०पी० मुखर्जी, के०एम० पणिकर, इतिहास के क्षेत्र में रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब, रामशरण शर्मा समाजविज्ञान के क्षेत्र में ए०आर०देसाई, योगेन्द्र सिंह, श्यामाचरण दुबे, एम०एन० श्रीनिवास आदि के नाम उल्लेखनीय रूप से लिये जा सकते हैं। इस चिन्तन में सबसे खास बात यह रही कि दर्शन के उसके औजारों को मार्क्स के रूप में लागू करते हुए भारतीय सन्दर्भों की व्याख्या भर की गई उसमें कोई नया विकास नहीं हुआ।

1.1.5 गाँधीवादी अवधारणा –

‘गाँधीवादी अवधारणा’ का मूल उद्देश्य यह है कि भारतीय जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तर को उन्नत किया जाए ताकि दस वर्षों के अन्दर न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त किया जा सके। गाँधीवादी योजना सबसे पहले भारत के पाँच लाख गाँवों की आर्थिक दशा उन्नत करना चाहती है। और इसलिए कृषि के वैज्ञानिक विकास और कुटीर उद्योगों के विस्तार पर बल देती है। महात्मा गाँधी कोई प्रशिक्षित अर्थशास्त्री नहीं थे और इसलिए उन्होंने विकास का कोई मॉडल तैयार नहीं किया परन्तु उन्होंने भारतीय कृषि, कुटीर उद्योग तथा मूल उद्योग आदि के विकास के लिए कुछ नीतियों का समर्थन अवश्य किया। आचार्य श्रीमन् नारायण ने सन् 1948 में उसकी पुष्टि की। ये प्रकाशन गाँधीवादी आयोजन या विकास के गाँधीवादी ढाँचे का आधार है—

(i) कृषि :—

गाँधीवादी योजना का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य भारतीय आर्थिक समायोजन में कृषि-सुधार को बढ़ावा देना है। कृषि विकास का मुख्य लक्ष्य खाद्यान्नों में राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता और खाद्य-पदार्थों में अधिकतम क्षेत्रीय स्वावलम्बिता प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के लिए न केवल बड़ी मात्रा में अच्छे कृषि-आदानों का प्रयोग आवश्यक है बल्कि भू-सुधारों का प्रयोग भी करना होगा। इसके लिए कास्तकारी प्रणाली में परिवर्तन, भू-स्वामित्व अधिकारों का उन्मूलन, जोतों की चकबन्दी, सहकारी समितियों का गठन आदि उपाय इस्तेमाल करने होंगे। महाजन-व्यवस्था को समाप्त करना होगा और किसानों को अधिक मात्रा में श्रम सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी, गाँधीवादी योजना में डेरी उद्योग (Dairy Farming) पर विशेष बल दिया गया और इसे कृषि का एक सहायक व्यवसाय माना गया।

(ii) कुटीर उद्योग :—

गाँधीवादी योजना का मुख्य उद्देश्य ग्राम समाज में अधिकतम आत्मनिर्भरता प्राप्त करना है। इसलिए इस योजना में कुटीर उद्योगों के पुनः स्थापन, विकास एवं विस्तार की समस्याओं का कृषि के साथ-साथ सविस्तार वर्णन किया गया। कताई एवं बुनाई को प्रथम स्थान दिया गया। यह उल्लेख किया गया कि खादी के उत्पादन को उतना ही महत्व दिया जाना चाहिए, जितना कि चावल और गेहूँ के उत्पादन को दिया जाता है। जैसे गाँव के लोग अपनी रोटी और चावल बनाते हैं उसी प्रकार उन्हें अपने निजी प्रयोग के लिए खादी तैयार करनी चाहिए। यदि वे अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा करते हैं। तो इस अतिरिक्त को बेच सकते हैं। गाँधीवादी योजना में प्रत्येक गाँव को कपड़े के उत्पादन में स्वावलम्बी बनाने की योजना दी गयी है। इसके लिए प्रत्येक ग्रामवासी से आशा की जाती है कि वह ग्राम उद्योगों के विकास एवं गठन में सक्रिय भाग

अदा करें। कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में गाँधी जी का महत्वपूर्ण योगदान है— “गाँधी जी ने चरखे को ग्रामीण जनता की मुक्ति का साधन बतलाया।”⁴⁰ चरखे का महत्व इतना बढ़ गया कि वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के झण्डे में भी आ गया।

इसके साथ-साथ गाँधीवादी योजना राज्य से वह अपेक्षा करती है कि वह ग्रामीण कुटीर उद्योगों के पुनरुत्थान एवं विकास को औद्योगिक आयोजन का मुख्य केन्द्र बनाए। इससे दस्तकारों को हस्तशिल्पों के सम्बन्ध में तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाएं उपलब्ध करानी होंगी। कच्चे माल के क्रय और तैयार माल के विक्रय के लिए सहकारी समितियाँ कायम करनी होंगी। कुटीर उद्योगों को बड़े पैमाने की इकाइयों की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध सुरक्षा देनी होगी, और कुछ ऐसे कुटीर उद्योगों को साहाय्य (Subsidies) देने होंगे जो इसके बिना विकसित ही नहीं हो सकते और साथ ही दस्तकारों एवं सहकारी समितियों को सस्ती दर पर वित्त उपलब्ध कराना होगा।

(iii) मूल उद्योग :-

गाँधीवादी योजना में कुछ चुने हुए मूल एवं कुंजी उद्योगों की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया गया है। इनमें उल्लेखनीय है— प्रतिरक्षा उद्योग, जल-विद्युत एवं तापीय संचालन-शक्ति प्रजनन, खानें तथा धातुकर्म, मशीनरी एवं मशीनी औजार, भारी इन्जीनियरिंग और भारी रसायन। गाँधीवादी योजना यह चाहती है कि मूल उद्योगों का विकास कुटीर उद्योगों के विकास में हस्तक्षेप न करे या इसमें बाधा न बने। गाँधीवादी योजना की सबसे अधिक वैज्ञानिक पहल यह है कि मूल कुंजी उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबंध राज्य के हाथ में होना चाहिए या दूसरे शब्दों में ये उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित होने चाहिए। गाँधीजी मशीनरी की सनक और उसके अंधाधुंध विस्तार के विरुद्ध हैं। उनका विश्वास है कि कारखाना पद्धति मशीनरी का विस्तृत प्रयोग करके पूँजीपतियों द्वारा श्रम के शोषण का साधन बन गयी है। वे मशीनरी और आधुनिक सुविधाओं का स्वागत

करते हैं। परन्तु शर्त यह है कि इनके प्रयोग से ग्रामीण का भार हल्का होना चाहिए, और मानवीय श्रम का विस्थापन नहीं होना चाहिए। मशीनरी अच्छी है यदि यह सब के हित को प्रोन्नत करती है, यह एक अभिशाप है यदि यह कुछ लोगों के हित को बढ़ाती है।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री 'चौधरी चरण सिंह' विकास के गाँधीवादी मॉडल के प्रबल समर्थक थे, उन्होंने लिखा है, "अकाद्यों स्रोतों से प्राप्त विभिन्न रिपोर्टों से यह संकेत मिलता है कि 1962 के पश्चात् माओत्से-तुंग ने कृषि को न केवल सर्वोच्च प्राथमिकता दी बल्कि अपने देश के निर्माण में बड़े पैमाने के यंत्रीकृत प्रोजेक्टों एवं उद्योगों की तुलना में मानवीय श्रम एवं विकेन्द्रीकृत श्रम प्रधान उद्योगों पर अधिक विश्वास रखा।"⁴¹ 'चौ० चरणसिंह' ने गाँधीजी के श्रम-प्रधान विकल्प का जोरदार समर्थन करते हुए लिखा है— "मोटे तौर पर पूँजी की अपेक्षा श्रम का अधिक उपयोग करना चाहिए और किसी भी हालत में सरकार को भविष्य में किसी पूँजी प्रधान परियोजना की अनुमति नहीं देनी चाहिए। जहाँ कहीं भी श्रम प्रधान विकल्प उपलब्ध हो।"⁴²

इसके अतिरिक्त गाँधीजी ने नैतिक विकास का पक्ष लिया इस हेतु इन्होंने छुआछूत की अमानवीय प्रथा का विरोध ही नहीं किया वरन् सम्पूर्ण उन्मूलन के लिए अभियान भी चलाया। उनका विश्वास था कि पूँजीपतियों और जमींदारों की नैतिक शक्ति के पर्याप्त उत्थान से जनसाधारण की गरीबी और उनकी दुर्दशा खत्म की जा सकती है। अर्थात् मनुष्यों के हृदय परिवर्तन से समस्याओं के समाधान की कल्पना भी गाँधीजी ने की थी। उनका कहना था— "बिना किसी कारण के सम्पत्तिशील लोगों की सम्पत्ति ले लेने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। मेरा उद्देश्य है आपके हृदय तक अपनी बात पहुँचाना, जिससे आप अपनी सारी निजी सम्पत्ति अपने आसामी थाती तौर पर रखें और मूलतः उसी के कल्याण में, खर्च करें।"⁴³ इस प्रकार विकास के लिए गाँधीजी द्वारा सुझायी गयी नीतियों को 'गाँधी

मॉडल' के नाम से जाना गया। अहिंसा, करुणा, दया और धर्म के बलबूते नैतिक उत्थान की कल्पना गाँधीजी के सामाजिक विकास की धुरी है।

इन सभी धारणाओं को मिलाकर भारत में एक 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' को आरम्भ किया गया। जो स्वयं में एक नया प्रयोग था। इसे ही 'नेहरू मॉडल' के नाम से जाना जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात मिश्रण की एक भारतीय राजनीतिक परम्परा थी। संविधान को मिश्रित कहा गया, जबकि मूल था 1935 का अधिनियम। धर्म-निरपेक्ष कहा गया जबकि मूल था— हिन्दू मानसिकता से ग्रसित। जातिभेद समाप्ति का नारा दिया गया, लेकिन मूल में था —पारिवारिक वर्चस्व। उसी तरह अर्थव्यवस्था का भाग बना — मिश्रित अर्थव्यवस्था, लेकिन मूल था— पूँजीपतियों एवं सामंतों का स्वार्थ लाभ। इन्हीं मूलाधारों के कारण जो विसंगतियाँ प्राचीन समय से थीं, वो तथाकथित आजादी के बाद से भी आज तक अपना वर्चस्व बनाये हुए हैं।

1.2 विकास के आयाम :-

विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है। इसकी सम्पूर्णता को समग्र विकास कहा जाता है। इतिहास की गतिशील प्रक्रिया में कोई भी समाज अपने विभिन्न संस्थानों का विकास करता है। इन संस्थानों को आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में जाना जा सकता है। आर्थिक गतिविधियों में निरन्तरता और परिवर्तन की दोनों स्थितियाँ लगी हुई देखी जाती हैं। मार्क्सवादी विकास के सिद्धान्त में रेखीय विकास की प्रक्रिया को दर्शाया गया है जिसमें समाज आर्थिक रूप से संग्रहण से लेकर पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था तक परिवर्तित हुआ है, विकसित हुआ है। हर एक स्थिति दूसरे से अगली स्थिति विकसित स्थिति होती है। आर्थिक प्रक्रिया में उत्पादन के साधन, सम्बन्ध और उपभोग सब शामिल हैं।

आधुनिक भारत के माइने में समाज की आर्थिक स्थिति को अर्द्ध पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था के रूप में जाना जाता है जो कि पूँजीवाद की ओर अग्रसर है। आर्थिक संस्थान में विकास को देखने के लिये सरकारी तौर पर गरीबी की रेखा की अवधारणा विकसित की गई है और यह माना जाता है कि एक निश्चित आय जिसमें व्यक्ति का पालन-पोषण हो सकता है उसकी न्यूनतम स्थिति गरीबी की रेखा है। सरकारी तौर पर इसकी एक निश्चित पद्धति है। लेकिन यह आर्थिक विकास का उचित पैमाना नहीं कहा जा सकता। राजनीतिक हस्तक्षेप इस पैमाने को मैन्यूपुलेट करता रहता है। आर्थिक विकास को मापने के लिये यह देखना आवश्यक है कि उत्पादन सम्बन्धों में समाज की जनसंख्या किस तरह की भूमिका अदा कर रही है।

भारत कृषि प्रधान देश माना जाता है देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि आधारित गतिविधियों से अपनी आजीविका का पालन करता है। कृषि की

पद्धति भी सतत् एक जैसी रहने वाली नहीं है। तकनीकी परिवर्तनों ने उसमें पहले से अधिक विकसित स्थितियों को जन्म दिया है इससे कृषि आधारित जीवन भी पहले से अधिक अच्छी स्थिति में आया है। इस तरह कृषि आधारित अर्थव्यवस्था में विकास की स्थिति को देखना है तो कृषि पर आधारित जनसंख्या का अनुपात, कृषि में प्रयुक्त होने वाली तकनीकी, उस तकनीकी का प्रभाव, उससे आर्थिक हालात पर पड़ने वाले प्रभाव, ये तमाम आयाम हो जाते हैं जिनको देखना जरूरी हो जाता है। दूसरी कृषि ही अकेली अर्थव्यवस्था नहीं है उद्योग और व्यापार भी अर्थव्यवस्था के अहम् हिस्से हैं जिन्होंने भारत के विकास को प्रभावित किया है। विकास के आर्थिक आयाम के रूप में इसके सबसे छोटे पायदान श्रमिक से लेकर शेयर होल्डर तक को इस व्यवस्था के आयाम के रूप में पढ़े जाने की जरूरत होती है। उद्योग के उत्पादों ने उपभोग की क्षमता, व्यापार में भूमिका निभाने वाली जनता की स्थितियों को आर्थिक विकास का पैमाना माना जा सकता है। इधर हुए तमाम सर्वेक्षण इन विषयों पर केन्द्रित रहे हैं कि किस उत्पाद को कितने लोग प्रयोग में लाते हैं और किस तरह के व्यापारिक क्रियाकलाप में कितने लोग लगे हुए हैं। इस तरह यह समझा जा सकता है कि विकास का आर्थिक आयाम एक व्यापक फलक को अपने भीतर समेटता है।

विकास का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम व्यवस्था का राजनीतिक संस्थान है। समाजों के आरम्भ से ही इस बात को ध्यान दिया गया कि उसे नियमित, नियन्त्रित करने के लिये एक राजनीतिक संस्था की आवश्यकता है। प्लेटो हो अथवा चाणक्य दोनों के दर्शन में राज्य को नियन्त्रित करने के लिए संस्था के स्वरूप पर विशद चर्चा हुई। राज्य एक विधायी और कार्यपालिकीय तथा न्यायिक तन्त्र की तरह काम करता है। आज के राजनीतिक संस्थान उन्हीं के अगले चरण

हैं। इन संस्थाओं में लगातार विकास होता रहा है। यह विकास समाज की जरूरत होता है और कई बार राज्य की भी। आदिम कबीलाई राजनीतिक तन्त्र से विकसित होते हुए हम आधुनिक लोकतन्त्र तक पहुँचे हैं।

आधुनिक लोकतंत्र में जनता की महत्वपूर्ण भूमिका है। जनता राजनीतिक तन्त्र में सीधे हिस्सेदारी निभाती है, इस राजनीतिक तन्त्र में कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका सभी शामिल हैं। देश के सभी कार्यपालक जनता के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हैं। जनता ने अपनी सभी शक्तियाँ संविधान में सन्निहित कर दी हैं और संविधान सर्वोपरि हो गया है। संविधान भी जब जनता की जरूरतों के सामने ओछा पड़ने लगता है तो उसमें संशोधन किया जाता है अब तक भारत के संविधान में 117 संशोधन हो चुके हैं। ये जनता के प्रति कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका को अधिक उत्तरदायी बनाने के लिये किये गये हैं।

राजनीतिक विकास में वे सभी बातें शामिल हैं जिनमें जनता के अधिकारों को अधिक से अधिक संरक्षण मिले। जनता एक अपरिभाष्य और एक रूप पदावली नहीं है। जनता में सामाजिक विषमता के सभी रूप शामिल हैं। संवैधानिक प्रावधानों में सामान्यतः जनता को बराबर अधिकार दिये गये और बराबर माना गया है लेकिन वंचितों और पिछड़ों का विशेष ध्यान रखने का प्रावधान किया गया है। राजनीतिक विकास को सैद्धान्तिक रूप में देखना एक बात है और व्यावहारिक रूप में देखना दूसरी बात है। राजनीतिक विकास का सही अध्ययन उसके व्यावहारिक रूप के अध्ययन से होता है। यह पता लगाना कि संविधान की सर्वोच्चता को सही माइने में लागू किया जा रहा है अथवा नहीं, कार्यपालिका संविधान के नियमों के अधीन काम करती है अथवा किसी धनिक की गुलाम बन गई है। न्याय व्यवस्था

न्याय देने में कितनी तत्पर और कितनी सक्षम है विधायिका ने जनता के अनुकूल कितने विधायी कदमों को उठाया है। विधायिका द्वारा उठाये गये विधायी कदम वास्तव में जनता के लिए ही उठाये गये हैं अथवा उनका उद्देश्य किसी दूसरे संस्थान के हितों का पोषण है। ये सब बातें राजनीतिक विकास के विविध आयाम हैं।

समाज व्यवस्था आर्थिक और राजनीतिक अंगों से ही नहीं चलती है उसे चलाने के अपने कुछ व्यावहारिक नियम होते हैं। मैकाइवर ने 'सामाजिक सम्बन्धों के जाल' को इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण माना है। सामाजिक संरचना उन कार्यों को नहीं करती जिनको आर्थिक और राजनीतिक संस्थान करते हैं। सामाजिक संरचना समाज के पुनरुत्पादन से लेकर सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह तक का नियमन करती है। सामाजिक विभेदीकरण, सामाजिक समरसता, सामाजिक जीवनयापन जैसी गतिविधियाँ राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र से बाहर सामाजिक क्षेत्र में क्रियाशील रहती हैं। देखने में कई बार यह एक-दूसरे को 'ओवरलैप' करती सी लगती हैं लेकिन ये होती अलग-अलग हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण तत्व यहाँ की जाति व्यवस्था है। संवैधानिक रूप में यह मान्य नहीं है लेकिन सामाजिक रूप में यह एक वास्तविकता है। जाति व्यवस्था सामाजिक संगठन का काम करती है। जाति व्यवस्था के प्रकार्यवादी अध्ययन इसके पीछे उन कारणों की खोज करते हैं जहाँ यह समाज की अपरिहार्य शर्त की तरह बन गई थी और सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका इसने अदा की। आज की स्थिति में इसके कोई प्रकार्यवादी कारण उपस्थित नहीं हैं लेकिन यह है। सामाजिक नियमन के विवाह सम्बन्धी नियम संवैधानिक रूप में भले ही इनसे छूट मिलती है लेकिन सामाजिक रूप में

इनको कठोरता से पालन किया जाता है। इनके पालन न करने पर इन संकटों की आशंका रहती है जहाँ विवाह संस्था का परम्परागत निर्वाह सम्भव नहीं होता। इसी तरह सामाजिक संस्तरण, सामाजिक वितरण, सामाजिक उपभोग, सामाजिक उत्सव, सामाजिक एकत्रण जनता की मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति करने के लिए आवश्यक होते हैं। ये आवश्यकताएँ जिस रूप में बदलती जाती हैं उसी रूप में इन सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक विकास के आयाम के रूप में सामाजिक संस्थान में उन सभी अंगों को देखना आवश्यक हो जाता है जो सामाजिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति के परिप्रेक्ष्य में बदल गये हैं। उदाहरण के रूप में 'जजमानी प्रथा' को लिया जा सकता है। एक समय में सामाजिक संस्तरण के सन्दर्भ में यह संस्था तमाम तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, जब बाज़ार आधारित व्यवस्था ने इनके क्रियाकलापों को अपने दायरे में ले लिया, तो यह संस्था अप्रासंगिक हो गई, अब समाप्त हो गयी है।

सांस्कृतिक संस्था भी विकास के अध्ययन का एक बड़ा हिस्सा घेरती है। संस्कृतियाँ जन्म लेती हैं और मरती हैं। 'आस्कर लेविस' ने अमेरिकी बस्तियों के अध्ययन में इसी तरह से 'गरीबी की संस्कृति' के जन्म लेने की कहानी को प्रस्तुत किया है। इतिहास के विभिन्न चरणों में तमाम सांस्कृतिक तथ्यों का जन्म हुआ और वे एक स्थिति में पहुँचकर आज हमें एक सांस्कृतिक संरचना के रूप में दिखाई देते हैं। इनके बहुत सारे मूल्य, बहुत सारे तथ्य वैज्ञानिक सोच और क्रियाकलापों के आगे बेकार और निरर्थक हैं, लेकिन किसी संस्कृति की अपनी जीवन शतों के आवश्यक अंग हैं। इनके बिना वह संस्कृति मर सकती है और मरने भी लगी है। विकास के तर्कों में यह बात बहुत बार बहस के रूप में शामिल

हुई है कि ऐसे सांस्कृतिक तथ्यों के साथ किस तरह का व्यवहार हो। भारत में 'बेरियर ऐटिवन' ने इस बहस को महत्वपूर्ण स्तर पर पहुँचा दिया था। बाद में जनतान्त्रिक मूल्यों के प्रसंग के बाद यह मान लिया गया कि किसी के सांस्कृतिक मतों को स्वीकार करने का अधिकार उस व्यक्ति को है इसलिये उसके अधिकारों का हनन नहीं होना चाहिए।

भारतीय समाज अभी भी विकास की उन स्थितियों तक नहीं पहुँच सका है कि पुराने सांस्कृतिक तथ्यों का उन्मूलन हो चुका हो। अभी भी तमाम क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सांस्कृतिक तथ्यों और मान्यताओं के प्राचीनतर तथ्य मौजूद हैं, उनके मानने के पीछे समाज की अपनी जिजीविषा जुड़ी हुई है। इसके बिना जो वैक्यूम पैदा होगा उसे मारने के लिए क्या विकल्प होगा, यह तय नहीं है इसलिये जब इन सांस्कृतिक तथ्यों पर कुठाराघात होता है तो समाज के भीतर संकट की स्थिति पैदा हो जाती है।

इस तरह विकास के आयामों का फलक बहुत व्यापक है। कई विकास, विकास को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिये संरक्षित प्राचीन मूल्यों का भी महत्व होता है। ये सभी बातें विकास के अध्ययन की विभिन्न कड़ियाँ हैं। इन सब को जोड़कर जो परिदृश्य बनता है उसे समग्र विकास का नाम दिया जा सकता है।

1.3 विसंगति की अवधारणा —

आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र में 'विसंगति की अवधारणा' बहुत महत्व की है और उसे आधुनिक अर्थ में प्रयोग करने का श्रेय 'एमिल दुर्खीम' को है। वैसे इस अवधारणा का उल्लेख जर्मन दर्शनशास्त्री 'हीगल' की कृतियों में भी देखने को मिलता है पर उन्होंने 'Anomie' शब्द का नहीं, अपितु 'Alienation' शब्द का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है। दुर्खीम ने सर्वप्रथम 'विसंगति की अवधारणा' को अपनी महत्वपूर्ण कृति 'The Division of Labour in Society' (1893) में विशेषकर उस स्थान पर विकसित किया है जहाँ उन्होंने श्रम-विभाजन के सामान्य तथा व्याधिकीय परिणामों का उल्लेख किया है।

दुर्खीम के अनुसार, विसंगति का कारण स्वयं समाज है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएँ हैं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपना सम्बन्ध समाज के साथ जोड़ना पड़ता है और वह यह आशा भी करता है कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति में समाज या समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग उसे मिलता रहेगा। जब उसकी यह आशा पूरी नहीं होती है तो व्यक्ति में निराशा, असन्तोष, बदला लेने की भावना आदि पनप जाती है और वह समाज द्वारा मान्य स्थापित नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों को स्वीकार करने से इनकार कर देता है और इस प्रकार का व्यवहार करता है कि उसका यह व्यवहार विसंगति या नियमविहीनता का ही परिचायक होता है। सामाजिक श्रम-विभाजन ने समाज के सदस्यों को एक-दूसरे से न केवल सम्बन्धित किया है अपितु प्रत्येक को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में दूसरों पर अत्यधिक निर्भर भी बना दिया है। इस अत्यधिक निर्भरशीलता का एक बुरा परिणाम यह होता है कि जब कभी भी ये दूसरे लोग व्यक्ति की आशाओं के अनुरूप उसकी आवश्यकताओं

की पूर्ति में सहयोग नहीं देते, तो व्यक्ति स्वयं अपने ढंग से अपने स्वार्थों की पूर्ति में लग जाता है और सामाजिक एकता एवं संगठन की चिन्ता करना छोड़ देता है। उस स्थिति में समाज में आदर्शविहीनता अथवा नियमविहीनता की एक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी को दुर्खीम ने 'विसंगति' की संज्ञा दी है।

दुर्खीम ने सामाजिक एकता (Social Solidarity) अथवा यान्त्रिक व सावयवी एकता का सिद्धान्त (Theory of Mechanical and Organic Solidarity) प्रतिपादित किया। यान्त्रिक एकता के सम्बन्ध में दुर्खीम का कथन है कि— आदिकालीन समाजों में व्यक्तिगत समानता के आधार पर एक ठोस एकता होती थी, क्योंकि सामाजिक या वैयक्तिक जीवन के किसी भी पहलू में उल्लेखनीय भिन्नताएँ शायद ही मिलती हों। इस ठोस एकता को ही दुर्खीम ने यान्त्रिक एकता कहा है। क्योंकि उस समय सब लोग जनमत, परम्परा, धर्म और राजा के दबाव से आँख मूँदकर या यन्त्रवत् कार्य करते रहते थे। इन जनमत, परम्परा आदि का इतना प्रभाव होता था कि व्यक्ति के रूप में किसी का भी कोई महत्व नहीं था और व्यक्ति का व्यक्तिगत सामूहिक व्यक्तित्व में इतना घुल-मिल जाता था कि उसके अपने व्यक्तित्व का अस्तित्व तक मिट जाता था। वह समाज के साथ यन्त्रवत् सोचता, काम करता और आदेशों का पालन करता था।

सावयवी एकता के बारे में वे कहते हैं कि— आधुनिक समाज में श्रम-विभाजन के फलस्वरूप विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी विभिन्न सामाजिक विभागों और व्यक्तियों में अन्तः सम्बन्ध, अन्तः निर्भरता और एकता है। श्रम-विभाजन ने एक ओर तो व्यक्तियों और समूह को अनेक प्रकार से विभाजित कर दिया है, पर दूसरी ओर उनकी आवश्यकताओं के आधार पर उसी श्रम-विभाजन ने उनको एक-दूसरे पर अत्यधिक निर्भर और एक-दूसरे से

सम्बन्धित भी कर दिया है। यही 'सावयवी एकता' की स्थिति है। इस प्रकार की एकता का नाम 'दुर्खीम' ने 'सावयवी' एकता इसलिए दिया है कि यह एकता प्राणी के शरीर में पाई जाने वाली एकता से मिलती-जुलती है।

अतः यह कह सकते हैं कि दुर्खीम ने समाज को एक विकासवादी योजना के अन्तर्गत माना। सामाजिक एकता से उसका अर्थ सामाजिक जीवन की आधारभूत समानता को परिभाषित करने वाली नैतिक मान्यताएं एवं विचार हैं। एक सामाजिक विकासवादी के रूप में वह मानता था कि— “पूर्व औद्योगिक समाजों में यांत्रिक एकता व्यक्तियों की अस्मिता एवं समझौते पर आधारित थी जबकि औद्योगिक समाजों में जैविक या सावयवी एकता व्यक्तियों के विभिन्न मतभेदों को सहने की सहमति पर आधारित है जिसमें संघर्षों को विभिन्न संस्थागत व्यवस्थाओं द्वारा सीमित किया जा सकता है। पूर्व औद्योगिक समाजों में जहाँ पर श्रम का विभाजन लगभग नहीं था वहीं पर आधुनिक समाजों में यह उच्च स्तरीय विशेषीकृत तथा स्पष्ट है।”⁴⁴

दुर्खीम ने आत्महत्या का सामाजिक सिद्धान्त भी दिया है उन्होंने आत्महत्या की समाजशास्त्रीय परिभाषा इन शब्दों में की है— “आत्महत्या शब्द किसी भी ऐसी मृत्यु के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जो खुद शिकार व्यक्ति के सकारात्मक या नकारात्मक कृत्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हो।”⁴⁵ ‘जिलबुर्ग’ के अनुसार— “आत्महत्या एक विकासात्मक स्वरूप की प्रतिक्रिया है जो सभी प्रकार के मानसिक रोगियों और संभवतः तथाकथित सामान्य व्यक्तियों में सभी जगह और आमतौर पर पाई जाती है।”⁴⁶

दुर्खीम का कथन है कि समाज में घटित होने वाली आत्महत्या की दर की व्याख्या केवल समाजशास्त्रीय आधारों पर ही की जा सकती है। एक निश्चित समय पर समाज का नैतिक संगठन ऐच्छिक मृत्युओं के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर विशेष शक्ति की मात्रा लिए हुए

एक सामूहिक शक्ति का दबाव अनुभव करता है जो कि उसे, 'आत्महत्या' करने को बाध्य करती है। दुर्खीम के अनुसार— "निम्न समाजों में सामूहिक चेतना में व्यक्ति जीवन का बहुत कम मूल्य होता है और आत्महत्या के रूप में आत्मदाह वास्तव में व्यक्ति में समाज के सक्रिय होने का प्रतिबिम्ब है और उच्च समाजों में जहाँ व्यक्ति सामान्य भावनाओं और विश्वासों के जरिए एक स्थिति का आदी हो जाता है वह स्थिति एक समय गड़बड़ा जाती है। फलस्वरूप 'एनोमी' पैदा होती है जो बड़ी हुई आत्महत्या दर में प्रकट होती है।"⁴⁷

दुर्खीम ने विसंगति की स्थिति उत्पन्न होने के कारणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि सामूहिक शक्ति अथवा सामाजिक नियन्त्रण के भंग होने के कारण, अचानक महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन होने से अथवा एकाएक कोई बड़ी उन्नति अथवा अवनति आदि होने से समाज में जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उसी से समाज में नियमहीनता और आदर्शशून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि इन एकाएक उत्पन्न परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करना प्रायः सम्भव नहीं होता है। दुर्खीम के शब्दों में— "इस प्रकार की आत्महत्या का कारण समाज के सन्तुलन का बुरी तरह से नष्ट हो जाना है जैसे कि व्यापारिक अपकर्ष, (Business Depressions) राजनीतिक उथल-पुथल, युद्ध आदि से उत्पन्न होने वाली स्थिति। आत्महत्या का महत्वपूर्ण कारण दरिद्र हो जाना नहीं है बल्कि व्यक्ति के सामाजिक सन्तुलन में किसी प्रकार की गम्भीर बाधा पड़ने पर समाज के अनेक सदस्यों की 'जीने की इच्छा' भी कम हो जाती है। अनेक व्यक्ति अपने जीवन-संगठन में अचानक होने वाले परिवर्तनों के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते हैं, चाहे यह परिवर्तन व्यक्ति के पद के उत्थान अथवा पतन से सम्बन्ध रखता हो, धनी व्यक्ति का जब दीवाला निकल जाता है तब अक्सर वह अपनी नयी स्थिति के साथ सामंजस्य करने में अपने को असमर्थ पाता है ऐसी स्थिति में आत्महत्या ही दूसरा मार्ग रह जाता है। यही एनोमिक आत्महत्या है।"⁴⁸

‘मर्टन’ ने अपनी पुस्तक ‘Social Theory and Social Structure’ में ‘विचलन का सिद्धान्त’ प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त को ‘विसंगति’, ‘अलगाव’ तथा ‘विपथगमन’ का सिद्धान्त, इन तीनों सिद्धान्तों के नाम से जाना जाता है। ‘मर्टन’ ने इस सिद्धान्त के सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मर्टन का कहना है कि प्रत्येक सामाजिक समस्या में दो कारण साथ-साथ पाए जाते हैं इनमें पहला कारण सामाजिक विघटन है तथा दूसरा कारण सामाजिक विचलन है। हालांकि ये दोनों कारण अलग-अलग मात्रा में होते हैं लेकिन इनसे दोनों को आपस में बल मिलता है। मर्टन के अनुसार—“सामाजिक विघटन से अभिप्राय उन परस्पर सम्बन्धित स्थितियों और भूमिकाओं की सामाजिक व्यवस्था की असमर्थताओं व असफलताओं से है जिनके कारण सदस्यों के सामूहिक और व्यक्तिगत लक्ष्य पूर्ण रूप से उस सीमा में प्राप्त नहीं किए जा सकते जिसमें उन्हें तब प्राप्त किया जाता जब ये असमर्थता और असफलता की स्थितियाँ न होतीं।”⁴⁹

मर्टन ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या के लिए अमेरिकन समाज का उदाहरण दिया है। मर्टन का कहना है कि अमेरिकन समाज में प्रतियोगितात्मक व्यावसायिक सफलता का लक्ष्य लोगों द्वारा पसन्द किया जाता है। लक्ष्यों को उचित साधनों के माध्यम से भी प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो विभिन्न कारणों से उचित साधनों के माध्यम से इन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाते। इसका परिणाम यह होता है कि ये लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं तथा उनका व्यवहार अनपेक्षित हो जाता है। यही स्थिति विचलन कहलाती है।

इसी क्रम में 'पारसन्स' ने विसंगति' या 'एनोमी' की अवधारणा को अपनी पुस्तक 'The Social System' (1951) के सातवें अध्याय में विकसित किया है। इन्होंने विचलित व्यवहार को अन्तः क्रियात्मक सामाजिक व्यवस्था में असन्तुलन की व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया है, पारसन्स का कथन है कि— "सामाजिक अन्तः क्रियाओं के दौरान व्यक्ति के व्यवहारों का नियंत्रण कुछ सामाजिक संहिताओं या सामाजिक व्यवहार— प्रतिमान के अनुसार होता है। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वे इनके अनुसार अपना आचरण करें। लेकिन समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो इन नियमों या आचरणों का उल्लंघन करते हैं तथा संस्थागत प्रतिमान के विपरीत कार्य करते हैं। इसी प्रकार का व्यवहार विचलित व्यवहार कहलाता है।"⁵⁰

'पारसन्स' का कहना है कि समाज संस्थागत समय—सारिणी, संस्थागत प्राथमिकताएँ, पारस्परिक अन्तः क्रियात्मक दबाव, संस्कार या कर्मकाण्ड आदि के द्वारा व्यक्ति (कर्त्ता) के व्यवहार को पथ—भ्रष्ट होने से रोकने का प्रयत्न करता है, फिर भी कोई—कोई कर्त्ता न तो कर्मकाण्ड को मानता है और न ही समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों के अन्तर्गत रहकर क्रिया करता है — वह तो मनमाने ढंग से अपने विचलित व्यवहारों की अभिव्यक्ति करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका व्यवहार संस्थागत मूल्यों के बिल्कुल विपरीत होता है और उन असंगत व पथ—भ्रष्ट व्यवहारों को वह अपने ढंग से क्रियान्वित करके अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है। यही विसंगति की स्थिति है। यहाँ पर पारसन्स बहुत कुछ 'मर्टन' के विचारों के निकट आ जाते हैं 'मर्टन' ने भी लिखा है कि "प्रतिमानहीनता का आधार समाज के सांस्कृतिक लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के नियमों या संस्थागत साधनों की उपलब्धता के बीच का अन्तर है।"⁵¹

‘कार्ल मार्क्स’ ने अपनी प्रारम्भिक रचना “1844 की राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा दर्शन सम्बन्धी पाण्डुलिपियाँ” में ‘अलगाव की अवधारणा’ (Concept of Alienation) के सिद्धान्तों की विवेचना की है। मार्क्स ने अपना ध्यान मनुष्य के वास्तविक जीवन पर केन्द्रित किया और अलगाव को मनुष्य के जीवन की भौतिक परिस्थितियों से जोड़कर व्याख्या की। उन्होंने बताया कि पूँजीवादी समाजों में अलगाव मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करता है। इन सम्बन्धों का आधार आर्थिक सम्बन्ध होते हैं। “बर्टेल आलमैन” के अनुसार— “अलगाव का सिद्धान्त एक वैचारिक प्रयास है, जिसके द्वारा मार्क्स ने पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की, मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक दशाओं पर तथा सामाजिक प्रक्रियाओं पर जिसका वह स्वयं एक अंग होता है, पड़ने वाले विनाशकारी प्रभावों का वर्णन किया है।”⁵² मार्क्स की दृष्टि में आर्थिक अलगाव ही जीवन के शेष सामाजिक अलगावों का निर्धारक होता है। उनके अनुसार अलगाव किसी समाजेतर अलौकिक शक्ति का परिणाम न होकर मनुष्य के अपने ही सामाजिक-आर्थिक कार्यों का परिणाम है। ‘एलेन स्विंजउड’ ने लिखा है — “मार्क्स के लिए अलगाव एक प्रक्रिया के रूप में वर्णित है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने श्रम द्वारा सृष्ट दुनिया में अजनबी रूप धारण करता जाता है।”⁵³

निजी-सम्पत्ति और श्रम के अलगाव की विवेचना करते हुए मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि— “यह सच है कि निजी सम्पत्ति की गतिशीलता से ही हमें अलगाव का विचार राजनीतिक अर्थशास्त्र में प्राप्त हुआ, किन्तु इस विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि निजी-सम्पत्ति श्रम के अलगाव का कारण और आधार प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में वह (निजी-सम्पत्ति) श्रम के अलगाव का

परिणाम ही है। ठीक जैसे देव गुण मूलतः मनुष्य की बौद्धिक भ्रान्ति का कारण नहीं बल्कि परिणाम ही है। बाद में चलकर यह सम्बन्ध दो तरफ़ा हो जाता है।”⁵⁴

पूँजीवादी समाज में मजदूर-वर्ग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए मार्क्स ने ‘अलगाव की अवधारणा’ के चार प्रमुख आयामों की विवेचना की है।

(i) मनुष्य का श्रम की प्रक्रिया से अलगाव (Man's Alienation from labour process) :-

पूँजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर निजी-स्वामित्व तथा मुक्त-व्यापार की आर्थिक प्रणाली कायम होती है। मजदूर-वर्ग का उन पर कोई नियंत्रण और अधिकार नहीं होता, फिर भी उसे उनसे जुड़ना पड़ता है। जीविकोपार्जन के लिए उसे अपनी श्रम-शक्ति उत्पादन के साधनों के मालिक पूँजीपति के हाथों बेचनी पड़ती है। उसका श्रम बिका हुआ माल बन जाता है। इस प्रकार श्रम की प्रक्रिया का श्रम से अलगाव हो जाता है। यह स्थिति मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा का निषेध है। मार्क्स ने स्वयं यह प्रश्न उठाते हुए कि श्रम का अलगाव क्या है ? बताया— “सर्वप्रथम यह तथ्य कि श्रम मजदूर के लिए बाह्य है अर्थात् वह उसकी सहज प्रकृति का अंग नहीं है, इसलिए कि वह अपने काम से अपनी पुष्टि नहीं करता बल्कि अपने को विनष्ट करता है, संतुष्ट नहीं बल्कि दुखी होता है, अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को स्वेच्छया विकसित नहीं करता बल्कि अपनी देह को घुलाता है और मस्तिष्क को नष्ट करता है।”⁵⁵

श्रम का अलगाव जीवन को विसंगतियों से भर देता है। ऐसी स्थिति में श्रम मनुष्य के लिए आनन्द नहीं बल्कि बोझ का विषय बन जाता है। श्रम की प्रक्रिया में मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक क्षमता का दोहन और शोषण होता है। फलतः वह श्रम और कार्य में संलग्न रहने के बावजूद श्रम के उद्देश्य और कार्य में

उल्लास से रहित होता है। श्रम मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का माध्यम है। श्रम के जरिये ही वह अपने को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है, परन्तु श्रम के अलगाव से मनुष्य अपने 'स्व' की अभिव्यक्ति का अनुभव नहीं करता और न श्रम की प्रक्रिया से उसमें उसके 'स्व' का विकास ही होता है। बल्कि इसके विपरीत वह आत्महीनता का शिकार होता है।

(ii) मनुष्य का अपने उत्पाद से अलगाव (Man's Alienation from his Product) :-

पूँजीवादी समाजों में मजदूर अपने श्रम के उत्पाद से वंचित होता है। वह जो कुछ उत्पन्न करता है, उस पर उसका नहीं बल्कि पूँजीपति का अधिकार होता है। मजदूर अपने श्रम के बदले में सिर्फ मजदूरी पाता है और मजदूरी सिर्फ इतनी पाता है जिसका कि उसके श्रम करने योग्य बना रहने के लिए आवश्यक समझा जाता है। जिस प्रकार मालिक अपने पशुओं को इतना खिलाता है, जितने से वे अधिक से अधिक काम करने योग्य बने रह सकें। उसी प्रकार पूँजीपति मजदूर को इतना देता है जितना उसे जिन्दा रहने, काम करने तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए जरूरी समझा जाता है। मार्क्स ने लिखा है— “पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र जो पूँजीपति-वर्ग के हितों से सम्बद्ध होता है, मजदूर को वैसे ही समझता है जैसे कि वह कोई घोड़ा हो। उसको ठीक उतना ही मिलेगा जितना उसे श्रम करने लायक बनाये रखने के लिए आवश्यक है। वह उसे जब वह काम नहीं कर रहा होता है, मानव प्राणी भी नहीं समझता।”⁵⁶

श्रम का उत्पाद क्या है ? मार्क्स के शब्दों में —“श्रम का उत्पाद वह श्रम है, जिसे किसी चीज में मूर्त कर दिया गया है। जो माल बन गया है। यह श्रम का वस्तुकरण है। श्रम का सिद्धिकरण उसका वस्तुकरण है।”⁵⁷

(iii) मनुष्य का अपने प्रजातीय जीवन से अलगाव (Man's Alienation from his specieslife) :-

‘कार्ल मार्क्स’ ने श्रम के वस्तुकरण और अलगाव के अन्तर को स्पष्ट किया है। मनुष्य अपने श्रम से जिस भौतिक सम्पदा का सृजन करता है, वह वस्तुतः उसके प्रजातीय जीवन का वस्तुकरण ही है। वह मनुष्य के सामाजिक श्रम की वस्तु रूप में अभिव्यक्ति है। मानव-सत्त्व का मूर्त रूप है लेकिन श्रम का अलगाव एक दूसरी ही चीज है। मनुष्य श्रम के वस्तुकरण द्वारा जहाँ अपने प्रजातीय गुणों को एवं अपनी क्षमता को पुष्ट एवं विकसित करता है, अपनी मनुष्यता को अपने कौशल, कला एवं सौन्दर्य बोध को वस्तु में रूपान्तरित करता है, वहीं श्रम के अलगाव से उसके प्रजातीय गुणों एवं मानव सत्त्व की क्षति होती है। श्रम का अलगाव श्रम को मानवीय गुणों के विकास एवं अभिव्यक्ति में सहायक नहीं अपितु तुच्छ एवं पाशविक आवश्यकताओं की संतुष्टि का साधन मात्र बना देता है। मार्क्स ने लिखा है कि — “मनुष्य को अपनी जाति की जो चेतना होती है, उसे श्रम का अलगाव इस तरह रूपान्तरित कर देता है कि जाति-जीवन उसके लिए एक साधन मात्र बन जाता है। इस प्रकार श्रम का अलगाव मनुष्य के जाति-सत्त्व, प्रकृति और उसके आत्मिक जाति गुण दोनों को उससे अलग सत्त्व में उसके व्यक्तिगत अस्तित्व के एक साधन में बदल देता है।”⁵⁸

(iv) मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से अलगाव (Man's Alienation from his fellowmen) :-

पूँजीवादी समाज में मनुष्य का न केवल श्रम की प्रक्रिया, श्रम के उत्पाद और अपने प्रजातीय जीवन से अलगाव होता है, बल्कि मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से भी अलगाव हो जाता है। मार्क्स की दृष्टि में यद्यपि आर्थिक अलगाव ही प्राथमिक है, फिर भी उनकी अलगाव की धारणा का क्षेत्र सामाजिक जीवन की व्याख्या की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। वे इसके माध्यम से पूँजीवादी समाज में

मनुष्य के समस्त पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं और स्पष्ट करते हैं कि श्रम के अलगाव के फलस्वरूप ही सामाजिक जीवन के शेष सम्बन्धों में भी अलगाव तथा वैमनस्य उत्पन्न होता है। सामाजिक और पारिवारिक विघटन बढ़ता है।

मार्क्स के शब्दों में इस तथ्य का कि मनुष्य अपने श्रम के उत्पाद से, अपनी जीवन सक्रियता से, अपने जाति सत्व से अलग हो जाता है, एक तात्कालिक परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने ही कार्य, अपनी ही कृति को अपने से अलग पाता है। वह अपने श्रम की प्रक्रिया और उत्पाद को ऐसी वस्तु के रूप में पाता है जो उसकी अपनी नहीं, किसी और की होती है। इस प्रकार वह उससे श्रम की प्रक्रिया और श्रम के उत्पाद से ही अलग नहीं होता, बल्कि उससे भी अलग होता है जो श्रम के उत्पाद का मालिक होता है। मार्क्स लिखते हैं— “अगर मनुष्य को उसके चारों ओर का परिवेश ढालता है तो उसके चारों ओर के परिवेश को मानवोचित बनाया जाना चाहिए।”⁵⁹

अतः मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना द्वारा उत्पन्न ‘विसंगतियों’ का, श्रम के अलगाव का, मनुष्य की परतंत्रता, अमानवीयता एवं असामाजिकता का समाधान एक नियम संगत प्रक्रिया है। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली स्वयं उन परिस्थितियों को विकसित करती है जो उसका ही विनाश करता है। श्रम तथा पूँजी के वैमनस्य से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष समाजवादी क्रान्ति की उस मंजिल तक अनिवार्य रूप से पहुँचता है, जिससे श्रम पर पूँजी की प्रभुता को उलट कर सामाजिक सम्पत्ति पर आधारित समाजवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना की स्थापना होती है। जिसका मुख्य उद्देश्य वर्गविहीन एवं राज्यविहीन साम्यवादी समाज का निर्माण है। साम्यवादी समाज श्रम के अलगाव से रहित समाज होगा।



1.4 विसंगति के आयाम :-

विकास के परिप्रेक्ष्य में 'विसंगति की अवधारणा' वह स्थिति है जिसमें विकास के लिये उठाये गये कदम विपरीत परिणामों के कारण बनते हैं। विकास की दो स्थितियाँ होती हैं स्वतः स्फूर्त विकास और निर्देशित विकास। स्वतः स्फूर्त विकास भी विसंगतियों को जन्म दे सकता है लेकिन इसके पीछे उत्तरदायी ऐतिहासिक, सामाजिक कारण होते हैं। जिनसे ये दोनों स्थितियाँ पैदा होती हैं वहीं निर्देशित विकास के मामले में इसके उत्तरदायी वे निर्देशक होते हैं जो विकास को अमलीजामा पहनाते हैं। आधुनिक भारत के विकास का महत्वपूर्ण प्रकार निर्देशित विकास रहा है। स्वतंत्रता के बाद देश को निर्दिष्ट दिशा दिये जाने का उत्तरदायित्व देश के संविधान और देश की सरकार ने निभाया है। इस निर्देशन में लगातार ऐसी स्थितियाँ पैदा होती रही हैं जो अपेक्षित नहीं थीं बल्कि निन्दनीय थीं। इन स्थितियों को देश के 'विकास की विसंगतियों' की संज्ञा दी जा सकती है।

भारतीय संविधान के नीति निदेशक तत्व वह आधारशिला हैं जिस पर विकास का सैद्धान्तिक खाका तैयार किया गया। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर, भाषाई और शैक्षणिक स्तर पर जो कदम उठाये जाने चाहिये थे उसके लिये नीति निदेशक तत्वों की आकांक्षा महत्वपूर्ण थी। लेकिन इनको तैयार करने और लागू करने की पद्धति ने इस आकांक्षा को ताक पर रखकर बिल्कुल अलग स्थितियों को पैदा कर दिया। 1954 में फणीश्वर नाथ रेणु ने 'मैला आँचल' में इस तरह की विसंगतियों की आहट को रेखांकित किया। एक तरफ 'वामनदास' जैसे गाँधीवादी स्वप्नदृष्टा राष्ट्र निर्माण और राष्ट्र के निर्देशित विकास का सपना तैयार करते हैं। देश की जनता इस सपने को पाने के लिये प्राणों की आहुति देती है दूसरी तरफ 'कापरा' जैसे लोग हैं जो अपने निजी स्वार्थों

को लिये वामनदास की हत्या कर फेंक देते हैं और ये वर्चस्वशाली होते जा रहे हैं। यह प्रतीकात्मक रूप में लोकतंत्र के मूल सिद्धान्तों की हत्या थी। 'रेणु' का संकेत था कि देश में ऐसे लोगों का प्रभुत्व होने वाला है।

विकास की रणनीति को लागू करने की बड़ी जिम्मेदारी लोकतंत्र के तीनों अंगों पर डाली गयी। सामाजिक विकास के लिये जनता के शिक्षण की नीति जनता को ऐसी शिक्षा देने में चुक गयी जिसका कि विकास के आधारभूत मन्तव्य से कोई लेना-देना नहीं था। सामाजिक कुरीतियाँ, सामाजिक बुराईयाँ, जातिप्रथा आधारित भेद-भाव, स्त्री-पुरुष विषमता, छुआछूत सब की सब किसी न किसी तर्क का आधार लेकर कायम रखी गयीं देश की वोट की राजनीति के लिये इनका कायम रखा जाना फायदे का सौदा था। इस तरह से सामाजिक विकास में विसंगतियाँ पैदा हुईं। पुरानी संस्थाएँ चोला बदलकर नये रूप में सामने आ गयीं। जो पहले से कहीं क्रूर थीं।

भारत का स्वाधीनता आन्दोलन समाज सुधार की कोख से पैदा हुआ। परम्परागत सामाजिक ढाँचा तमाम विद्रूपताओं से भर गया था। नये तरह के समतावादी विचारों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप भारतीय बौद्धिक जगत इस बात का अनुभव करने लगा कि इस सामाजिक ढाँचे में तमाम तरह के सुधारों की आवश्यकता है। उन्नीसवीं सदी में स्थान-स्थान पर सुधारवादी संस्थाओं और संगठनों का विकास हुआ। लेकिन इनमें एक सामान्य बात थी कि कहीं न कहीं ये समाज के परम्परावादी मूल्यों पर खड़ी थीं। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, जातिप्रथा उन्मूलन, छुआछूत ये सब समाज सुधार के दायरे में आते थे, व्यावहारिक स्थिति इससे पलट चली समाज सुधार के इन प्रवक्ताओं ने ऐसी रुढ़ताओं को एकजुट किया जो इस तरह के समाज सुधारों के विरुद्ध थीं। कई बार ऐसे नेताओं को स्थान मिला जो व्यावहारिक जीवन में इससे उलट मूल्यों की वकालत करते थे।

आज़ादी के बाद की स्थितियों में समाज सुधार का प्रचारक चेहरा एक तरफ था और इनको न स्वीकारने वाले व्यक्तिगत चेहरे दूसरी तरफ। पंचायतें व्यक्तिगत लाभ या जातिगत लाभ के मूल्यों से संचालित हो रही थीं। महाजनी और सामन्तवादी मूल्यों से लैस ब्राह्मणवादी व्यवस्थाएँ यथावत चलती रहीं। परिवार की संयुक्तता एक समस्या बन गई। हर एक परम्परागत मूल्य की वकालत में उस संस्था के तमाम लाभ गिनाये जाने लगे, कुल मिलाकर उनके प्रकार्यवादी मूल्यांकन का दौर आरम्भ हो गया। समाज सुधार की प्रक्रिया गम्भीर प्रक्रिया थी संवैधानिक ढाँचे में इस पर गम्भीरता से विचार किया गया और लोककल्याणकारी राज्य की संकल्पना को दोहराया गया, लेकिन यह क्रियान्वयन बेहद विसंगतिपूर्ण रहा। 'विकास की विसंगति' का यह ऐसा आयाम है जिस पर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है। दलितों, पिछड़ों, वंचितों, स्त्रियों, मजदूरों की स्थिति यह बताती है कि सामाजिक विकास के एजेन्डे में गम्भीर खोट रहे हैं उनका निवारण एक समस्या बना हुआ है। इन विसंगतियों का परिणाम है कि आये दिन इन मामलों के उकसाने पर युद्ध की स्थितियाँ जन्म ले लेती हैं। कानूनों का गलत इस्तेमाल होता है। बलिष्ठों का हथियार बनकर ये कानून दमितों के शोषण की गारंटी करते हुए नज़र आते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में देश को तमाम पायदान ऊपर चढ़ने थे। संविधान में समाजवाद को महत्व देते हुए देश के रास्ते को समान विकास की अवधारणा पर आगे ले जाना था। लेकिन निजी पूँजी के संकेन्द्रण की आकांक्षाओं ने इस सपने को विपरीत दिशा दे दी। पूँजीवादी पद्धति के दवाबों ने आर्थिक क्षेत्र में तमाम विसंगतियों को पैदा किया। उत्पादन के परम्परागत साधन समाप्त होते गये और व्यक्ति उपभोक्ता माल में बदलता गया। उसके पास संचित परम्परागत सम्पत्ति उपभोग की आवश्यकता पूर्ति की भेंट चढ़ गयी। जिससे समानता का स्वप्न हमेशा के लिये नष्ट हो गया। व्यक्तियों के भीतर बिचौलिया बनने की दौड़, बिना श्रम के

उपयोग करने की आकांक्षाओं, बाजार का आधारभूत गुलाम बनने की स्थितियाँ विकास की विसंगति पूर्ण स्थितियाँ हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी इसी तरह से तमाम ऐसे प्रसंगों का विकास हुआ जो बेहद विसंगतिपूर्ण थे। लोकतंत्र में 'जनता के स्वतंत्र मत' का मूल समझा गया इसीलिये यह प्रावधान किया गया कि हर एक नागरिक की स्वतंत्र इच्छा का सम्मान होगा उनकी इच्छाओं के आधार पर ही राज्य का नियमन होगा लेकिन राजनीतिक विकास का स्वरूप इस तरह से निर्देशित किया गया कि जनता का स्वतंत्र मत, जनता के ऐसे मत में बदल गया जिसमें स्वतंत्रता की सबसे कम गुंजाइश थी। जिन परम्परागत मूल्यों, प्रतिमानों को बदलने पर नये मूल्य और प्रतिमान बनने का समय था उसमें विघटनकारी और मूल्यों के रूप में यही मूल्य बनाये गये, जाति का राजनीतिकरण हुआ, वोटों के बिकने की परम्परा शुरू हुई, अफवाहों के आधार पर जनता की राय को प्रभावित किया गया। धर्म, समुदाय, भाषा के आधार पर जनता में विभेदकारी तत्वों की घुसपैठ करायी गई और लोकतांत्रिक आकांक्षा को ध्वस्त कर दिया गया। राजनीतिक क्षेत्र में यह स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी विसंगतियाँ थीं।

किसी भी राष्ट्र का सांस्कृतिक ढाँचा राष्ट्र के भविष्य का महत्वपूर्ण पायदान होता है। सांस्कृतिक क्रियाकलाप जनमानस के भीतर उस उत्साह और दिशा का सृजन करते हैं जो राष्ट्र निर्माण के लिये अति आवश्यक है। भारतीय संस्कृति का मूल्य निर्धारण देश के विकास के साथ दो दिशाओं में होता रहा है। बीसवीं सदी के आरम्भ में यह माना जाना एक महत्वपूर्ण आयाम था कि देश का अतीत गौरवमय रहा है उसे वापस लाना है दूसरा यह था कि देश की वर्तमान स्थितियों से उसे बाहर निकालना है। दोनों ही स्थितियों में दो पक्ष रहे धर्म और धर्मनिरपेक्षता। शिक्षा संस्कृति के उत्थान का काम करती है। देश की शिक्षा

व्यवस्था का विकास यह रहा कि धर्म को सदैव से एक सुरक्षित स्थान जीवन में दिया जाता रहा। धर्म का सबसे काला पक्ष यह रहा कि उसने एक तरफ अन्धविश्वास और अतार्किकता का स्थान बनाये रखा दूसरी तरफ धार्मिक उन्मादों को स्थान देकर साम्प्रदायिकता जैसे तत्त्वों को पनपने दिया। भारतीय संस्कृति की पहचान धर्म से बाहर नहीं हो पायी और आधुनिक मनुष्य अपने विश्वास की खोज में बार-बार धर्म की ओर लौटता रहा। परिणामतः सामुदायिक जीवन में विसंगतियाँ पैदा हुईं। वैयक्तिकता की वृद्धि और व्यक्तिगत आस्थाओं के बीच संघर्ष ने सांस्कृतिक सहयोग के स्थान पर सांस्कृतिक संघर्ष की सृष्टि की।

सामुदायिक स्थलों पर यह देखने को मिला कि किसी भी धार्मिक संस्थान ने अपने धार्मिक स्थलों के निर्माण से सामुदायिक विकास को बाधित किया। सड़कें, रेलें या फिर दूसरे विकास के रास्तों ने भले ही अपने रास्ते बदले हों पर ये अपने स्थान पर बने रहे और नये-नये विकास मार्गों पर उभरते रहे। यह आधुनिक भारत की सांस्कृतिक विसंगति है कि शिक्षिततम व्यक्ति भी इसकी शरण में अपने को धन्य पाता रहा। इतना ही नहीं हुआ। यहाँ भी सत्ता का दवाब बलिष्ठों और कमजोरों की आस्थाओं में संघर्ष की सृष्टि करने से नहीं चूका। यह विसंगति के अध्ययन का जरूरी आयाम है।

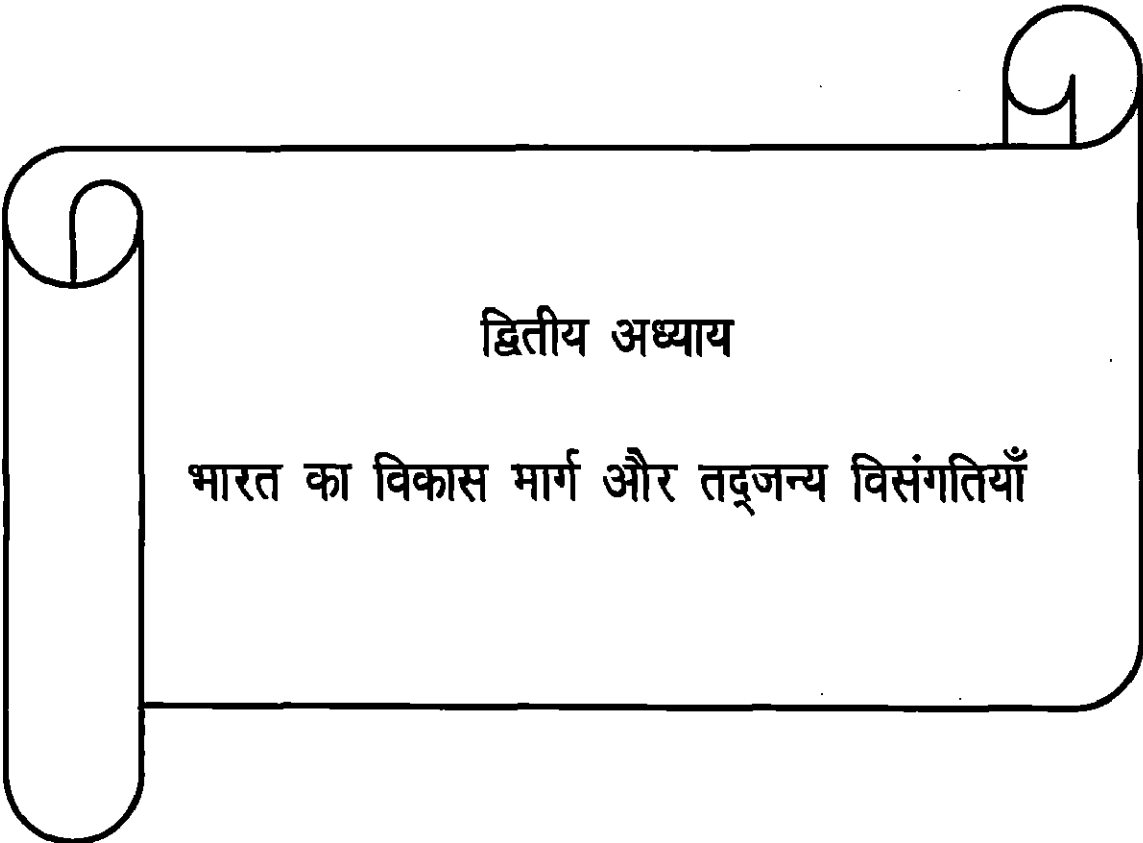
इस तरह विसंगति को देखने के लिये एक समाज व्यवस्था के सभी क्षेत्र खुले मैदान की तरह हैं विकास के नाम पर देश में जो कुछ भी किया गया उसका बड़ा हिस्सा विसंगतिपूर्ण था। इसीलिए देश आज समस्याओं के ढेर पर खड़ा हुआ है। सवाल ही सवाल हैं जवाब किसी के पास नहीं है।

सन्दर्भ

1. माइकल कोविन और रॉबर्ट डबल्यू० सेन्टन, : द इन्वेंसन ऑफ डबलपमेन्ट, इन पावर ऑफ डबलपमेन्ट, पृ०— 438
2. आर्चुरो एस्कोवर : 1988, पृ०— 430
3. हैरी एस० ट्रूमैन: 20 जनवरी 1949 का उद्घाटन भाषण
4. यूनाइटेड नेशन्स डोकुमेन्ट 1990, पृ०— 80
5. पूरन चंद्र जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ०— 42
6. श्री रामानुजभाष्य, श्रीमद्भगवद गीता, अध्याय—4, (अनु०— श्री हरिकृष्ण दास गोयन्दका), पृ०— 133
7. डॉ० देवराज : भारतीय संस्कृति, पृ०—10
8. डॉ० सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ०— 37
9. वही, पृ०— 38
10. डॉ० देवराज : भारतीय संस्कृति, पृ०— 46
11. राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 210
12. संपा० धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य : हिन्दी साहित्य कोश, भाग—1, पृ०—452
13. मेराज अहमद :विकास का समाजशास्त्र, पृ०—02
14. वही, पृ०— 02
15. अर्जुन देव: सभ्यता की कहानी, प्रथम भाग (N.C.E.R.T.), पृ०— 180
16. लेनिन संकलित रचनाएँ, खण्ड—1, पृ० 22
17. वही, पृ० 19
18. श्यामाचरण दुबे: विकास का समाजशास्त्र, पृ०—20
19. सी०पी०आई०एम०: मार्क्सिस्ट फिलॉस्फी और राजनीतिक अर्थशास्त्र, पृ०— 37
20. मेराज अहमद: विकास का समाजशास्त्र, पृ०— 40

21. रैल्फ फौक्स : उपन्यास और लोक जीवन, पृ०- 33
22. Marx, k.: Selected works, Vol. I, P- 170
23. ए०आर०देसाई : भारत का विकास मार्ग, मार्क्सवादी दृष्टि पृ०-13
24. वही, पृ०-14
25. श्यामाचरण दुबे : विकास का समाजशास्त्र, पृ०- 73
26. Marx, k.: Selected works, Vol. I, P- 211
27. मार्क्स, एंगेल्स : साहित्य तथा कला, पृ०-47
28. टॉम बाटोमर: मार्क्सवादी समाजशास्त्र, पृ०-13
29. एमिल बर्न्स : मार्क्सवाद क्या है, पृ०- 15
30. कार्ल मार्क्स : पूँजी खण्ड, पृ०- 820
31. वही, पृ०- 852
32. कार्ल मार्क्स : फ्रे० एंगेल्स संकलित रचनाएँ, खण्ड-1, भाग-1, कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ० 130-131
33. का० मार्क्स, फ्रे० एंगेल्स : खण्ड-1, भाग-1, कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ०- 130
34. का० मार्क्स : फ्रे० एंगेल्स : खण्ड-1, भाग-1, कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ०-131
35. का० मार्क्स : जे० वेडेमेयर के नाम मार्क्स का पत्र, 5 मार्च 1852, पृ० 15
36. कार्ल मार्क्स : फ्रे० एंगेल्स संकलित रचनाएँ, खण्ड-1, भाग-1, कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ० 137-138
37. वही, पृ०- 144
38. वही, पृ०- 52
39. डॉ० हृदय नारायण मिश्र: समाज दर्शन : सैद्धान्तिक एवं समस्यात्मक विवेचन, पृ०- 260

40. अर्जुन देव : सम्यता की कहानी, द्वितीय भाग, (N.C.E.R.T.), पृ०— 399
41. चौ० चरण सिंह : भारत की आर्थिक नीति, पृ०— 59
42. वही, पृ०— 102
43. ए०आर०देसाई: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ०— 296
44. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत में समाज (ESO-02), पृ०— 43
45. एमिल दुर्खीम : आत्महत्या, एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ०— 40
46. वही, पृ०— 21
47. वही, पृ०— 16
48. Emile Durkheim : Suicide : A study in Sociology, P- 271
49. डॉ० गणेश पाण्डेय : भारतीय सामाजिक समस्याएँ, पृ०—22
50. वही, पृ०—24
51. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत का अध्ययन (ESO-01), पृ०— 14
52. बर्टेल आलमैन : एलियनेशन, पृ०— 231
53. एलेन स्विंजउड: मार्क्स तथा आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त, पृ०— 93
54. कार्ल मार्क्स : 1844 की अर्थशास्त्री तथा दर्शन सम्बन्धी पाण्डुलिपियाँ, पृ०— 115
55. वही, पृ० — 104
56. वही, पृ० — 33
57. वही, पृ० — 103
58. वही, पृ० — 104
59. वही, पृ० — 199



द्वितीय अध्याय

भारत का विकास मार्ग और तद्जन्य विसंगतियाँ

पिछले पाँच-छः दशकों में भारतीय उपमहाद्वीप में सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में निर्णायक रूपांतरण देखने में आया है। विश्वयुद्ध के बाद बँटवारा, साम्प्रदायिकता का तांडव, हिन्दू और मुसलमानों का बड़े पैमाने पर स्थानांतरण, रजवाड़ों का विलय, भारतीय संघ का गठन, भारत के संविधान की रचना, औद्योगिक नीति के प्रस्तावों को लागू करना और पूँजीवादी योजना का संकेत देती हुई मिली-जुली अर्थव्यवस्था की अभिधारणाओं पर आधारित पंचवर्षीय योजनाओं से भारत के समाज, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, शिक्षा, संस्कृति तथा वर्ग और जाति के स्वरूप में महत्वपूर्ण बदलाव आया है। इन परिवर्तनों की रूपरेखा अब स्पष्ट होने लगी है और इसने तमाम तरह की विसंगतियों को जन्म दिया है। हम सभी जानते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में सरकार बड़ी तत्परता से एक नीति का अनुसरण कर रही है जिसका लक्ष्य बताया गया है पिछड़ापन, गरीबी और असमानता को दूर कर भारतीय समाज को नया रूप देना और समृद्ध व सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत आधुनिक समाज में तब्दील करना।

स्वतंत्र भारत के संविधान में उन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मानकों तथा मूल्यों की मोटी रूपरेखा मिलती है जिन्हें उस उभरती हुई सामाजिक पद्धति का आधार बनना था। इस परिवर्तन को लाने की खातिर साधनों की अभिवृद्धि के लिए, साधनों के वितरण के लिए, विभिन्न श्रेणियों, वर्गों और संगठनों में उन्हें बाँटने के लिए तरह-तरह की संस्थाओं का विस्तार करके, और नयी संस्थाएँ बनाकर राज्य ने अनेक आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उपायों को लागू करने का भार उठाया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विकास का जो रास्ता अपनाया गया वह एक खास तरह की योजना के अनुरूप था जिसे 'मिश्रित अर्थव्यवस्था की निदर्शक योजना' कहा जाता है। भारत के विकास मार्ग ने क्या रखा, अपनाया, किस तरह की विसंगतियाँ उससे पनपीं उन्हें निम्न बिन्दुओं में रखकर देखा जा सकता है।

2.1 भारत की विकास यात्रा और पिछले साठ साल —

(i) संवैधानिक दिशा—निर्देश :

भारतीय गणतन्त्र की स्थापना के साथ ही राजकीय तौर पर विकास की एक रूपरेखा तैयार की गई। विकास की इस रूपरेखा और दिशा के लिये संविधान में पर्याप्त व्यवस्था की गई, जिसे संविधान का प्राणतत्व कहा जाता है। संविधान की प्रस्तावना और सरकार के लिये नीति-निदेशक तत्वों में भारतीय जनतंत्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास की स्पष्ट रूपरेखा अंकित है।

भारत के जनतंत्रीय संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है —“हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26.11.1949 ई० (मिति मार्ग—शीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”¹

भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक व शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार आदि मूल अधिकार दिये गये हैं। यदि सरकार इन अधिकारों का उल्लंघन करती है तो नागरिकों को यह अधिकार भी दिया गया है कि वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिये न्यायालय की शरण लें। उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार है कि वह ऐसे किसी कानून को जो संविधान विरुद्ध

हो रद्द कर दें। वस्तुतः हमारे समाज का एक बहुत बड़ा तबका कमजोर वर्ग का है। इस तबके का उत्थान नीति निदेशक तत्वों का मुख्य लक्ष्य है— “मूल अधिकार और नीति—निदेशक तत्व हमारे संविधान का अन्तःकरण हैं। मूल अधिकारों का प्रयोजन एक समतावादी समाज का निर्माण करना और समाज के उत्पीड़न या बन्धनों से सभी नागरिकों को मुक्त करना है, जबकि नीति—निदेशक तत्वों का लक्ष्य कुछ ऐसे सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को नियत करना है जो अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति द्वारा अविलम्ब प्राप्त किये जा सकते हों। मूल अधिकारों तथा नीति—निदेशक तत्वों के बीच कोई विरोध नहीं है। वे एक—दूसरे के पूरक हैं।”²

राज्य की नीति के निदेशक तत्व सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का आश्वासन देते हैं —

(1) अनुच्छेद 38 स्पष्ट रूप से यह अपेक्षा करता है कि— “राज्य, विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा।”³

(2) अनुच्छेद 39 के अनुसार राज्य अपनी आर्थिक नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि—

- (i) राज्य के सभी स्त्री और पुरुष, सभी नागरिक समान रूप से आजीविका कमाने के पर्याप्त साधन प्राप्त कर सकें।
- (ii) “समुदाय की भौतिक सम्पदा का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हितों का सर्वोत्तम साधन बन सके। इस खण्ड के

अधीन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए राज्य उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है।”⁴

- (iii) राज्य आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चलायेगा जिससे धन के उत्पादन के साधनों का नियंत्रण सर्वसाधारण के हितों के विरुद्ध मुट्ठी भर लोगों के हाथों में सिमट कर न रह जाय।
- (iv) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों, बालकों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ और बालकों और अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।
- (v) “राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि न्याय समान अवसर के आधार पर सुलभ हो, और वह विशिष्टतया यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य असमर्थता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या अन्य प्रकार से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।”⁵

(3) अनुच्छेद 42 के अनुसार राज्य सभी नागरिकों के काम के लिये न्यायपूर्ण दशाओं को उत्पन्न करेगा; जच्चा-बच्चा के आराम के लिये व जन-स्वास्थ्य के सुधार के लिये अस्पताल खोलेगा।

(4) अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य अनुसूचित जाति, जनजाति व पिछड़े वर्गों के आर्थिक हितों व शिक्षा के लिये यत्न करेगा। राज्य लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा

करना और सारी जनता के स्वास्थ्य को सुधारना अपना कर्तव्य समझेगा और शराब, अफीम आदि मादक पदार्थों का प्रयोग दवाई के अतिरिक्त बन्द करने का यत्न करेगा, राज्य कृषि तथा पशु पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक ढंग पर चलायेगा तथा दुधारु पशुओं का वध बन्द करने का यत्न करेगा।

(5) अनुच्छेद 54 के अनुसार “राज्य संविधान के आरम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिये उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।”⁶

भारतीय संविधान की विशेषताओं में एक कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य भी निहित है। इस सन्दर्भ में ‘डॉ० भीमराव अम्बेडकर’ का कथन उल्लेखनीय है— “हमारा संविधान संसदीय लोकतंत्र की स्थापना करता है। संसदीय लोकतंत्र से अभिप्राय है — एक व्यक्ति एक वोट। हमारे कई लक्ष्य हैं— राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना का लक्ष्य है तो आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का भी। आर्थिक लोकतंत्र स्थापित करने के कई मार्ग हैं। हमने एक ऐसा मार्ग अंगीकृत किया है जो देश, काल एवं परिस्थितियों की कसौटी पर खरा उतरने के लिए प्रबुद्ध एवं चिन्तनशील समाज के लिए पर्याप्त अवसर छोड़ता है।”⁷

नीति-निदेशक सिद्धान्तों के द्वारा भारत में कल्याणकारी राज्य की नींव रखी गई है। जिसका उद्देश्य राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। इन संवैधानिक प्रावधानों ने भारत के विकास की दिशा और आकांक्षा का स्वरूप रेखांकित किये जाने की नींव रखी जिसमें यह बात निहित थी कि देश के हर व्यक्ति को एक इकाई मानकर उसके सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास का जिम्मा राष्ट्र का होगा। इस माइने में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण कर दी गई। इन क्षेत्रों की सफलताएँ राज्य के लिये विकास के प्रतिमान माने गये और असफलताएँ राज्य की असफलताएँ। यह बात इसलिए

महत्वपूर्ण है कि विकास का उत्तरदायित्व किसका माना जाय। यह उत्तरदायित्व राज्य किस तरह से पूरा कर पाया यह विकास के स्वरूप में दिखाई देता है। संविधान में इनको सिद्धान्त रूप में स्वीकारना एक बात थी, उसका क्रियान्वयन दूसरी बात है। संविधान लागू होने के बाद से अब तक इसके क्रियान्वयन में हम अपने लक्ष्यों की ओर आगे तो बढ़े हैं पर उन्हें पा नहीं सके हैं। इस दौरान तमाम तरह की विसंगतियों ने भी जन्म लिया है।

संविधान की ये पवित्र व्यवस्थाएँ आजादी के 62 वर्ष बीत जाने पर भी कार्यान्वित नहीं हो पाई हैं। फलतः देश की कुल जनसंख्या का 38 प्रतिशत भाग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीने पर आज भी मजबूर है। इसके अलावा देश में आर्थिक असमानता बढ़ी है। आज भी विदेशी मूल का सवर्ण समाज जो कुल जनसंख्या का 15 प्रतिशत है तथापि उसकी सरकारी/गैर सरकारी नौकरियों में भागीदारी 88 प्रतिशत, व्यापार/उद्योग में 97 प्रतिशत, भूमि पर स्वामित्व 94 प्रतिशत तथा राजनीति में 70 प्रतिशत स्थानों पर यह वर्ग कब्जा किये हुए है अपनी इस स्थिति को बरकरार रखने के लिये उन्होंने मध्यकाल में देश के 85 प्रतिशत मूल निवासियों को 6 हजार जातियों में विभाजित कर दिया था और वे उसे आज भी संगठित नहीं होने दे रहे और जी भरकर शोषण कर रहे हैं। देश के शूद्र (गुलाम) बनाये गये लोग संगठित हो अपने अधिकारों के लिये आन्दोलन करते हैं तो मनुवादी मठाधीश बहुजनों को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटे रखने के लिये अपने अभिकर्ताओं के सहारे उन आन्दोलनों को अपने हाथ में लेकर कभी जातिवाद, कभी क्षेत्रवाद, कभी भाषावाद, कभी मंदिर-मस्जिदवाद को हवा देकर दिग्भ्रमित करने की कोशिश कर उनमें रोड़े अटकाते रहते हैं। फलतः भारत के मूल निवासी ज्ञान, शिक्षा के अभाव एवं धर्म के मूल स्वरूप को न समझ पाने के कारण पारस्परिक संघर्ष में उलझ कर अपने विकास मार्ग को अवरुद्ध कर लेते हैं।

‘ब्राह्मणवाद’— ‘बनियावाद’का गठजोड़ जो आजादी से पूर्व की मध्यमवर्गीय राजनीतिक सोच के माध्यम से शुरू हुआ था, वह आज भी बरकरार है। सामने कुछ बोलते हैं और पर्दे के पीछे ठीक विपरीत कार्रवाईयों में लिप्त रहते हैं, अन्याय करने वाले ही सामाजिक न्याय का झण्डा उठाने का नाटक करते हैं; बेरोजगारी दूर करने व हर हाथ को काम देने की घोषणा करने वाले ही पिछले दरवाजे से नई भर्ती पर रोक लगाते हैं, छँटनी करवाते हैं। इस प्रकार छल—कपट प्रपंच से बहुजन समाज का शोषण कर बर्बाद करने में लगे हैं। उस पर अन्याय, अत्याचार में कोई गिरावट नहीं आई है नहीं मनुवादियों के भय, आतंक के कारण देश के देहाती क्षेत्रों से दलित समाज के लोगों का शहरों की ओर बढ़ता हुआ पलायन थमा है। ये दलित गंदी जगहों, नालों, फुटपाथों, रेल की पटरियों, फैक्टरियों के आस—पास बसकर जानवरों से बदतर ज़िन्दगी जीने पर मजबूर हैं।

परिणामस्वरूप देश आज भी मनुवादियों की उपनिवेशवादी नीति का शिकार है। क्षेत्रीय स्तर पर शूद्र समाज में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न है किन्तु सवर्ण हिन्दुओं के अड़गों के कारण राष्ट्रीयता को संगठित होने में अभी कुछ और समय लगने की संभावना है। देश का सामाजिक विकास तरह—तरह की विसंगतियों का शिकार हुआ है। कमजोर वर्ग के उत्थान की नीतियों का लाभ सशक्त वर्ग उठाने में, तरह—तरह के अवसर निकाल पाने में सफल हुआ है। पिछड़ों और निम्नों के प्रति सामाजिक अपराध की संख्याओं में निरन्तर वृद्धि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(ii) भारत की भाषा, धर्म और जातिगत संरचना

भारत की भाषा —

भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है। सन् 1961 की जनगणना के आधार पर भारत में 1652 मातृभाषाएँ हैं भाषा की परिभाषा देते हुए यह कहा जा सकता है कि “भाषा यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था है जिसके माध्यम से भाषाई समुदाय के व्यक्ति आपस में विचार-विनिमय करते हैं।”⁸ भाषा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध लोकोक्ति है— ‘चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी’। (अर्थात् पानी हर चौथे कोस पर कुछ-न-कुछ बदल जाता है और भाषा आठवें कोस पर कुछ-न-कुछ परिवर्तित हो जाती है।) सम्पूर्ण विश्व में भारत अपनी आश्चर्यजनक भाषाई विभिन्नता के कारण भाषाविदों के लिए एक अलग व महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को चार भाषा परिवारों में बाँटा जा सकता है।

- भारतीय आर्य भाषाएँ
- द्रविड भाषाएँ
- आस्ट्रिक भाषाएँ
- तिब्बती-चीनी भाषाएँ

इन चारों भाषा परिवारों के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं के बोलने वालों की संख्या में बड़ी विविधता है। आर्य भाषाएँ बोलने वाले 73.0 प्रतिशत, द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाले 20.0 प्रतिशत, आस्ट्रिक भाषाएँ बोलने वाले 1.8 प्रतिशत और तिब्बती-चीनी भाषा-भाषी 0.85 प्रतिशत के लगभग हैं।

सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषाएँ व बोलियाँ भारतीय आर्य-भाषा परिवार की हैं। इसमें एक ओर पंजाबी व सिन्धी भाषाएँ हैं तो दूसरी ओर मराठी व कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, मेवाती, हिंदी, उर्दू, छत्तीसगढ़ी,

बंगाली, मैथिली, कुँमायुँनी व गढ़वाली जैसी भाषाएँ व बोलियाँ सम्मिलित हैं। द्रविड़ भाषाओं में मुख्य हैं — तेलगू, तमिल, कन्नड़, मलयालम और गोंडी आदि। आस्ट्रिक भाषा परिवार में मुख्यतया मध्य भारत की जनजातीय पट्टी की भाषाएँ व बोलियाँ आती हैं। सन्थाल, मुण्डा, हो, कड़ाकु आदि इसी समूह के भाषी माने जाते हैं। तिब्बती-चीनी भाषाई परिवार की भाषाओं व बोलियों वाले आमतौर पर उत्तरी पूर्वी भारत की जनजातीय जनसंख्या है। कहना यह है कि भारत की जनता भाषिक रूप से संगठनात्मक प्रकृतिवाली नहीं है। बोलियों से लेकर भाषा तक इतनी भिन्नताएँ हैं साथ ही ये भिन्नताएँ क्रमिक रूप में ऐसी संरचना में बँधी हुई हैं कि पश्चिमोत्तर से लेकर दक्षिण भारत तक समानता के लक्षण उनमें हैं।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अस्मिताओं के उद्भव के लक्षण दिखायी देते हैं। राष्ट्रवाद के एक तत्व के रूप में भाषा और संस्कृति को महत्व मिला। भाषा के आधार पर पहचान जनता के मानस में उभरने लगी थी जिसका परिणाम बाद में दिखाई पड़ा। स्वतंत्रता के पूर्व तथा बाद में भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टी कांग्रेस राजनीतिक कारणों से भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग का समर्थन करती थी। इस पार्टी ने तेलगु, कन्नड़ तथा मराठी भाषी जनता के दवाब में आकर 27 नवम्बर 1947 ई० को राज्यों के भाषा के आधार पर पुनर्गठन की माँग को मान लिया।

भाषाओं के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन की हमारी समस्या का बीज उन्नीसवीं शताब्दी से ही शुरू हो गया था। कांग्रेसी इतिहासकार 'डॉ० पट्टाभि सीतारमैया' के अनुसार— “बिहार के महेश नारायण ने 1894 में ही भाषा के आधार पर अपने प्रांत को बंगाल से अलग करने की माँग की थी और उसके लिए आंदोलन भी चलाया। फलस्वरूप कांग्रेस को 1908 में बिहार को एक स्वतंत्र प्रांत के रूप में स्वीकार करना पड़ा। बिहार के निर्माण के बाद भाषाई आधार पर प्रांतों

के पुनर्गठन और निर्माण का आंदोलन आंध्र प्रदेश में 1913 से जोर पकड़ने लगा। कांग्रेस ने 1927 में अपनी संवैधानिक समिति का गठन किया, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर यह प्रस्ताव पारित किया गया कि 'भाषाई आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन का अब समय आ गया है' और अब यह निहायत जरूरी हो गया है कि आंध्र, उत्कल, सिंध, कर्नाटक को एक स्वतंत्र प्रांत का दर्जा दे दिया जाए। 1928 में गठित नेहरू समिति ने भी भाषाओं के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन की पुष्टि करते हुए इस बात पर बल दिया कि प्रशासन की दृष्टि से बहुभाषी प्रांत असुविधापूर्ण हैं क्योंकि उस स्थिति में आदेशों, निर्देशों और प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा की संख्या दो या उससे अधिक होनी पड़ेगी। 1937 में भी कांग्रेस ने इस नीति की पुष्टि की, कि जहाँ तक हो प्रशासनिक इकाई को भाषाई और सांस्कृतिक एकता के आधार पर निर्मित किया जाए।⁹

भाषावाद भाषाई कटुता, झगड़ों और दंगों का सृजन करता है जिसके कारण राष्ट्रीय एकता व एकात्मकता को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। भाषावाद गलाकाट प्रतियोगिता से अन्तर्भाषीय प्रतिद्वन्द्विताओं को उभारता है। इस तरह भाषावादी परिस्थिति राष्ट्रीय एकता और विकास के लिए बहुत उलझी हुई और संकटमय है। भारत में भाषाई राज्यों का निर्माण बहुत अधिक कटुता और द्वेष के वातावरण में किया गया है। अविभाजित महाराष्ट्र में हुए भाषाई दंगे और तमिलनाडु में हिंदी विरोधी उपद्रव आज भी हमारी याद में ताजा हैं। गैर-हिंदी भाषी लोगों का कहना है कि— "सरकार की भाषा नीति हिंदी भाषियों के हित में है। इससे इनका आर्थिक संस्थाओं में प्रभुत्व हो जाएगा और इस कारण उन्हीं के पास राजनीतिक सत्ता होगी।"¹⁰ भारत के प्रथम प्रधानमंत्री 'पण्डित जवाहर लाल नेहरू' ने एक बार सुझाव दिया था कि स्वेच्छा से उत्तर-भारत के लोगों को एक दक्षिण भारतीय भाषा और दक्षिण भारत के लोगों को हिंदी भाषा सीखनी चाहिए।

भाषा विकास के बारे में पूरनचन्द्र जोशी का मत इस प्रकार है—
 “भाषा—नीति और भाषा विकास सम्बन्धी निर्णय कई स्तरों पर लिये जाते हैं— जैसे केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, विश्वविद्यालय और माध्यमिक या स्कूल शिक्षा बोर्ड के स्तर पर। फलस्वरूप, शिक्षा पर अमल की गयी भाषा की नीति में कोई भी एकरूपता नहीं है। नीतियों का कार्यान्वयन निरन्तर मानीटरिंग या देखरेख के अभाव में कारगर नहीं रहा है। यद्यपि तीन भाषाओं का फार्मूला सामाजिक और राजनैतिक महत्व को समझते हुए सर्व सहमति से लागू किया गया था किन्तु असलियत में इसमें बहुत रद्दोबदल किया गया है। हाल के वर्षों में, शिक्षा में भाषा का आपेक्षिक स्थान निश्चित करने के राज्य सरकारों के प्रयास बड़ी बहस—मुबाहसे और आन्दोलनों—उत्तेजनाओं के शिकार हो गये हैं।”¹¹

भाषावाद के कारण भिन्न—भिन्न भाषा भाषियों के दिमाग में लघुता, निम्नता और दमन की भावना प्रविष्ट हो जाती है। ऐसी धारणाओं के परिणामस्वरूप मामूली मुद्दों पर संघर्षात्मक भावनाएँ धधक उठती हैं— कि एक गैर हिंदी भाषा—भाषी ने हिंदी भाषा—भाषी की भाषायिक भावनाओं को ठेस पहुँचायी है या एक हिंदी भाषा—भाषी ने गैर हिंदी भाषियों के मनोभावों को आघात पहुँचाया है। सामुदायिक मनोभावों की ऐसी भ्रमात्मक धारणाओं के कारण विवाद, संघर्ष व हिंसक आन्दोलन का जन्म हो जाता है। भाषा के क्षेत्र में विसंगति को इस रूप में देखा जाना चाहिए कि ‘अनेकता में एकता’ की अवधारणा को सैद्धान्तिक मान्यता देने के बावजूद राष्ट्रीयता की मूल प्रवृत्ति इसके विरुद्ध ही जाती है और भाषा के आधार पर राजनीतिक संगठनों की सम्भावना जन्म लेती है ऐसा ही हुआ भी।

धर्म —

भारत राजनीतिक रूप में एक 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य है। इसका अर्थ है कि राज्य अपने कार्यों का सम्पादन धर्म से परे रहकर करेगा। भारतीय संविधान विभिन्न धर्मों के साथ तटस्थता बरतता है। यह किसी विशेष धर्म को प्रश्रय नहीं देता है। इस प्रकार, भारतीय संविधान का लक्ष्य 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' की स्थापना है। यहाँ विभिन्न धर्मों के साथ उदासीनता का भाव प्रकाशित किया गया है। राज्य, साधारणतः धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता है, परन्तु विशेष परिस्थिति में जब राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में होगी, तब नागरिकों की उन्नति एवं समाज के हित के लिए राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करेगा। ऐसी व्यवस्था संविधान में कर दी गई है। "Encyclopaedia of Religion and Ethics" में धर्म-निरपेक्षतावाद(Secularism)को निम्नांकित रूप में परिभाषित किया गया है— "धर्म-निरपेक्षतावाद राजनीतिक और दार्शनिक प्राथमिकता से युक्त ऐसी विचारधारा है, जो उद्देश्यपूर्ण रूप से नैतिक किन्तु धार्मिक रूप से निषेधात्मक है।"¹²

पं० जवाहर लाल नेहरू ने भारत के लिए सेक्यूलैरिज्म की अनिवार्यता को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है — "भारत—जैसे देश में जहाँ अनेक धर्म और सम्प्रदाय हैं, धर्म निरपेक्षता पर आधारित राष्ट्रवाद के सिवाय और किसी वास्तविक राष्ट्रवाद की रचना नहीं की जा सकती। कोई भी संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाये जाने पर समाज का कोई-न-कोई वर्ग अलग पड़ सकता है, और ऐसी स्थिति में स्वयं राष्ट्रवाद का अर्थ उतना व्यापक नहीं रहेगा, जितना कि होना चाहिए।"¹³ उन्होंने आगे कहा— "हमें संविधान में घोषित विचारों को केवल अपनाना ही नहीं बल्कि उन्हें अपने चिन्तन और जीवन का अंग बनाकर वास्तविक अखण्ड भारत का निर्माण करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म का अस्तित्व और उसकी

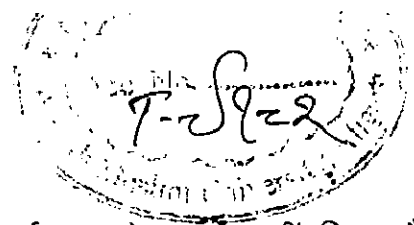
भूमिका शेष हो जायेगी। इसका मतलब है कि सामान्य राजनीतिक और सामाजिक जीवन का संचालन धर्म द्वारा नहीं होगा। भारत में किसी अन्य दृष्टिकोण को अपनाने का, यानि धर्म और राजनीति को जोड़ने का मतलब होगा देश को छिन्न-भिन्न करना।”¹⁴

धर्म-निरपेक्षतावाद का अर्थ धर्म-विरोधी समझना भ्रामक होगा। ‘डॉ० राधाकृष्णन्’ ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा है जो ध्यातव्य है— “जब भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य कहा जाता है तब इसका यह अर्थ नहीं है कि— यह धर्म की प्रासंगिकता को अस्वीकार करता है अथवा अधार्मिकता को प्रश्रय देता है। धर्म-निरपेक्षतावाद के द्वारा यह ध्वनित होता है कि भारतीय राज्य अपने को किसी विशेष धर्म के द्वारा शासित भी नहीं होगा। इस प्रकार धार्मिक निष्पक्षता एवं तटस्थता का दूसरा नाम धर्म-निरपेक्षतावाद है।”¹⁵

यदि हमारे विकास-कार्यों की विसंगतियों से कुछ शोषणकारी दमनकारी स्थितियाँ बनती हैं, तो उनसे निश्चित रूप से धार्मिक पुनरुद्धारवाद और रूढ़िवाद ही पनपेंगे। रूढ़िवाद पर रोक तब तक नहीं लगायी जा सकती जब तक विकास की शोषणकारी-दमनकारी विधियों और स्थितियों को न बदला जाय, क्योंकि यही धर्म निरपेक्षता विरोधी विचारधाराओं को हवा देती है। इस धार्मिक पुनरुद्धारवाद की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध अंग्रेजी इतिहासकार ‘एरिक हॉब्सबाम’ ने लिखा है — “आम लोगों के लिए धर्म के जुझारू, कट्टर और पुराने स्वरूप की ओर वापसी मुख्यतः मध्यमवर्गीय उदारवाद द्वारा पैदा किये अत्याचारी और अमानवीय समाज से सामना करने का एक तरीका थी। मार्क्स के शब्दों में (हालांकि ये शब्द केवल उन्होंने ही इस्तेमाल नहीं किये) ‘धर्म हृदयहीन लोगों का हृदय है, जैसे कि यह आत्मरहित स्थितियों की आत्मा है..... धर्म जन-साधारण के लिए अफीम है।’”¹⁶

धर्म—निरपेक्ष राज्य में देश के अन्तर्गत सभी नागरिकों को धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता, उपासना की स्वतंत्रता, धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता तथा किसी धर्म को मानने, प्रचार करने तथा परित्याग करने की स्वतन्त्रता निहित है। इस प्रकार, धर्म—निरपेक्ष राज्य में सभी धर्मों को एक साथ रहने तथा पनपने का अवसर प्राप्त होता है; जिसके फलस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता का विकास होता है। इस सन्दर्भ में 'डॉ० बाबेल' लिखते हैं— "धार्मिक स्वतन्त्रता सैद्धान्तिक विश्वासों तक ही सीमित नहीं है। इसके अन्तर्गत धर्म के अनुसरण में किये गये कार्य भी हैं। इसमें धर्म के अभिन्न अंग कर्मकाण्डों, धार्मिक कार्यों, संस्कृति और उपासनाओं की पद्धतियों की गारन्टी भी सम्मिलित है। धर्म या धार्मिक परिपाटी का आवश्यक भाग क्या है; यह अर्थान्वयन का विषय है तथा इसका विनिश्चय न्यायलयों द्वारा धर्म—विशेष के सिद्धान्तों के प्रति निर्देश से किया जायेगा। इसमें ऐसी परिपाटियाँ भी आती हैं जिन्हें समुदाय द्वारा धर्म का अंग समझा जाता है।"¹⁷

धर्म और जादू रहस्यात्मक शक्ति से मानव का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दोनों में शक्ति की उपासना होती है। धर्म और जादू को आदिम भी कहा जा सकता है। बलि की प्रथा का प्रचलन धर्म और जादू में समान रूप से दिखायी देता है। जहाँ तक पूजा और क्रिया विधान का सम्बन्ध है धर्म और जादू एक—दूसरे के निकट हैं। अतः धर्म और जादू में समानता है। आदिम धर्म में जादू और धर्म इस प्रकार घुले—मिले हैं कि दोनों के बीच विभेदक रेखा खींचना कठिन है। मानावाद, जीववाद तथा फीटिशवाद आदि आदिम धर्म के विभिन्न रूप जादू से पूर्णतः प्रभावित हैं। ये जादू से इतने घुले—मिले दिखाई देते हैं कि इन्हें जादू से पृथक् करना असंभव जान पड़ता है। जादू के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बारे में 'क्रिस्टोफर कॉडवेल' लिखते हैं— "जादू का अस्तित्व बाह्य यथार्थ के भ्रांत प्रत्यक्षबोध के रूप में ही संभव है, क्योंकि मनुष्य इसके साथ अपने सम्बन्धों के बारे



में स्वयं भी भ्रांत है। उसने अपने को अपने पर्यावरण से पृथक् नहीं किया है उसके मनोगत भावों को ही भ्रमवश वस्तुगत गुण समझ लिया जाता है।”¹⁸

‘मलिनॉस्की और सर जेम्स फ्रेज़र’ ऐसे दो विद्वान हैं जिन्होंने धर्म और जादू-टोना को समझने में बहुत योगदान दिया है। इन विद्वानों के अनुसार— “धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की आधारभूत समस्याओं और मानव अस्तित्व के अर्थ जैसे मृत्यु, विफलताएं आदि से है, जबकि जादू-टोने का सम्बन्ध उसकी छोटी-मोटी समस्याओं जैसे मौसम के परिवर्तन, अकाल, युद्ध में विजय, रोगों की रोकथाम आदि से है। धर्म में एक ओर लोग जहाँ ईश्वर की पूजा अभ्यर्थना करते हैं वहीं जादू-टोना में जादूगर अलौकिक शक्ति को वश में करने की कोशिश करता है। धर्म में लोग अलौकिक शक्ति के प्रति अपना विश्वास दिखाते हैं। उसके विपरीत जादू-टोने में जादू करने वाले अलौकिक शक्ति को वश में करने के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास करते हैं।”¹⁹

‘सर जेम्स फ्रेज़र’ ने ‘द गोल्डन बाउ’ (The Golden Bough) नामक अपनी पुस्तक में जादू-टोने और आदिम अंधविश्वासों के बारे में लिखा है। उसने आदिम लोगों में बौद्धिक प्रौढ़ता के विकासवादी क्रम को सामने रखा। उसके मत में — “जादू-टोने पर निर्भरता से शनैः — शनैः धर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है और उसके बाद अंततः वैज्ञानिक चिंतन की ओर।”²⁰ फ्रेज़र ने यह भी दिखलाने का प्रयास किया है कि धर्म, जादू से निकला है। जादू की असफलता ने धर्म को जीवन प्रदान किया है। यह मानना कि धर्म, जादू की उपज है, गलत प्रतीत होता है। धर्म और जादू को हम आज भी साथ पाते हैं। विश्व के अनेक धर्मों में जादू का आधिपत्य है। यदि धर्म का विकास जादू से होता है तो आज इस प्रकार का सामंजस्य नहीं दिखायी पड़ता। इसके अतिरिक्त धर्म का विकास उन-उन स्थलों पर भी हुआ है जहाँ जादू का अभाव था। यदि धर्म का वास्तविक कारण जादू को

मान लें तो एक बहुत बड़ी रुकावट सामने आ जाती है और वह यह है कि हम यह बतलाने में असमर्थ हो जाते हैं कि उन स्थानों में धर्म कहाँ से आया जहाँ जादू का अभाव था ?

धर्म और विज्ञान का विरोध बतलाते हुए कहा जाता है कि धार्मिक मनोवृत्ति व्यक्तिगत होती है। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म के प्रति एक अपना दृष्टिकोण होता है। धर्म में हम सिर्फ वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं अपनाना चाहते हैं बल्कि वास्तविकता का मूल्यांकन करते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रवृत्ति व्यक्तिस्वरहित होती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण में संवेग का कोई स्थान ही नहीं रहता है। एक वैज्ञानिक को विज्ञान के निष्कर्षों को मानने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। 'डॉ० फ्रेजर' लिखते हैं कि— "धर्म और विज्ञान, दोनों ही मानवीय बोध के तरीके हैं। ये दोनों ही मनुष्य को तथ्य या वास्तविकता से जोड़ते हैं। धर्म और विज्ञान दोनों ही उस अज्ञात को ज्ञेय बनाने या उजागर करने का प्रयास करते हैं। यद्यपि विज्ञान की अपेक्षा धर्म का रूप अधिक सामूहिक है विज्ञान भी वैज्ञानिक समुदाय में मिल-जुलकर आपसी सहयोग से काम करने पर जोर देता है। धर्म और विज्ञान दोनों ही स्वयं को सत्य के करीब मानते हैं।"²¹

विज्ञान का उद्देश्य कार्य-कारण सिद्धान्त के द्वारा वस्तुओं के बीच स्थिरता कायम करना है। विज्ञान विश्व की विभिन्न अनुभूतियों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध को उपस्थित कर सन्तोष की सांस लेता है। विज्ञान के अनुसार प्रत्येक दृश्य वस्तुएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं जिसके फलस्वरूप विश्व में आकस्मिकता और संयोग का कोई स्थान नहीं है। धर्म का उद्देश्य वस्तुओं की व्याख्या करना है। धर्म में वस्तुओं की व्याख्या के लिये "कल्पित कथाओं" (Myths) का सहारा लिया जाता है।

फिर, हम कह सकते हैं कि धर्म एक स्वतन्त्र अनुभूति है। धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से है। परन्तु विज्ञान इसके विपरीत बाहरी दुनिया से सम्बन्धित है। विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य अनुभव से है। मनुष्य के आन्तरिक अनुभव की उपेक्षा विज्ञान करता है।

भारत में हिन्दू, मुस्लिम साम्प्रदायिकता का कारण केवल धर्म नहीं अपितु सामाजिक, राजनीतिक कारक भी हैं। कुछ इतिहासकारों ने यह बात जोर देकर कही है कि — “आधुनिक भारत के राजनीतिक विकास में कोई भी अन्य तत्व अकेले इतना प्रभावकारी नहीं रहा है, जितना धर्म। उन्होंने साथ ही यह भी कहा है कि भारत में राजनीतिक ध्रुवीकरण का मुख्य आधार हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पारस्परिक धार्मिक वैमनस्य में निहित है।”²²

स्वतन्त्रता के बाद साम्प्रदायिकता की प्रकृति में महत्वपूर्ण अन्तर आया है। स्वतन्त्रता से पूर्व, खासतौर पर धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप और प्रभुत्व स्थापित करने की भावना साम्प्रदायिकता के मुख्य कारण माने जाते थे किन्तु वर्तमान में साम्प्रदायिकता के लिए धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप तथा प्रभुत्व स्थापित करने की भावना के साथ-साथ अलगाववाद, देशभक्ति पर अविश्वास, वोट की राजनीति, विदेशी एजेंट के रूप में पैसे के लिए धर्मनिरपेक्षता पर प्रहार आदि महत्वपूर्ण कारण हैं। 16 सितम्बर 1951 को पं० जवाहर लाल नेहरू ने लखनऊ में कहा था कि “साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सकता, फिर चाहे हिन्दू साम्प्रदायिकता हो चाहे मुस्लिम साम्प्रदायिकता, क्योंकि वह भारतीय राष्ट्रत्व और भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध, एक भारी चुनौती है।”²³ साम्प्रदायिकता के बारे में पं० जवाहर लाल नेहरू ने ‘डिस्कवरी ऑफ इण्डिया’ में लिखा है कि— “साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मनोवृत्ति है जो एक धार्मिक समुदाय को अपना

आधार बनाती है, परन्तु वास्तव में उसका सम्बन्ध उस वर्ग विशेष के लिए राजनैतिक सत्ता तथा राजनैतिक संरक्षण से है।”²⁴

सामान्यतः साम्प्रदायिकता का जन्म राजनीति की कोख से होता है। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता की भावना से प्रेरित होकर अनेक साम्प्रदायिक संगठनों की स्थापना हुई है। भले ही ये संगठन अपने को गैर राजनीतिक संगठन कहें, पर उनका उद्देश्य मूलतः राजनीतिक ही होता है। पं० जवाहर लाल नेहरू का मत है कि — “ऐसे साम्प्रदायिक संगठन यद्यपि धर्म के नाम का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी धार्मिक नहीं होते संस्कृति का नाम लेते हैं, पर संस्कृति का कोई काम नहीं करते, पुरातन संस्कृति के गीत भले ही गाते रहें। नैतिकता का नाम लेते हैं, पर नैतिकता से कोसों दूर रहते हैं। ये आर्थिक समूह भी नहीं होते क्योंकि उन्हें जोड़ने वाली कोई आर्थिक कड़ी नहीं होती। वे केवल राजनीतिक होते हैं, अपने को कहते हैं गैर राजनीतिक। उनकी माँगे राजनीतिक ही होती हैं।”²⁵

स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह एक विसंगतिपूर्ण स्थिति है कि हम धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्तों और वैज्ञानिकता की सोच के बीच जीते हुए भी धार्मिक सम्प्रदायवाद के दंश को झेल रहे हैं। यह अकेले भारत की ही स्थिति नहीं है दुनिया भर के तमाम देशों में धार्मिक कट्टरता और सम्प्रदायवाद ने अपनी मजबूत जड़ें जमा ली हैं। यह विश्व बाज़ार व्यवस्था और राजनीतिक सत्ता स्वार्थों का परिणाम भी माना जाना चाहिए जो जनता को तरह-तरह से बाँटकर अपने स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हैं। इसके प्रभाव के रूप में तमाम ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जो सभ्य समाज के लिए अशोभनीय हैं। इन निहितार्थों ने सुन्दर समरस मानवता के स्वप्न को खण्डित कर मानवीय मूल्यों की रक्षा के सिद्धान्त पर कुठाराघात किया है।

जातिगत संरचना —

जातिवाद की मूल प्रवृत्ति जाति व्यवस्था से सम्बद्ध है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म का प्रमुख आधार तो रहा ही है, साथ ही दूसरी जाति के लोगों के लिए खान-पान, व्यवसाय, विवाह, सम्मिलन, सहवास आदि पर प्रतिबन्ध भी रहा है, जो उसकी सांस्कृतिक पृथक्ता को व्यक्त करता है। जातिप्रथा की पृथक्ता ही उसकी विशेषता है जो जातिवाद के विकास में गति प्रदान करती है। कथ्य है कि भारतीय समाज के अन्तर्गत निवास करने वाली विभिन्न जातियों की कतिपय विशेषताएँ हैं जो उनके भिन्न-भिन्न समूहों को बनाये रखने में सहायक होती हैं। इन जातियों का विकास विभिन्न जाति-समूहों के रूप में जन्म के आधार पर, जिनका स्वतन्त्र विकासशील जीवन, भिन्न मान्यताएँ और अपनी पृथक् संस्कृति थी। 'एन०के० दत्त' ने जातिप्रथा की छः विशेषताओं की चर्चा की है—

- (i) "जाति का सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता।
- (ii) खान-पान में विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे से प्रतिबंध रखती हैं।
- (iii) अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।
- (iv) जातियों में ऊँच-नीच का संस्तरण रहता है जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च और सर्वमान्य रहती है।
- (v) मनुष्य की जाति उसके जन्म से निर्धारित होती है, जाति के नियमों को तोड़ने पर व्यक्ति जाति-बहिष्कृत हो जाता है।
- (vi) जाति की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।"²⁶

जाति-व्यवस्था के संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर 'प्रो० घुर्ये'²⁷ ने विस्तार से विचार किया है तथा उन्होंने उसके पृथक्त्व, खान-पान की भेदकता, ऊँच-नीच की भावना, सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताएँ और विशेषाधिकार, व्यवसाय का बन्धन तथा विवाह का प्रतिबन्ध आदि उसकी प्रधान विशेषताएँ बतायी हैं।

‘ई० ब्लन्ट’ का कहना है कि— “भारतीय जाति—प्रथा को अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तर्विवाही समूहों का सम्मिलित रूप भी कहा जा सकता है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत मानी गयी है। सामाजिक सम्मिलन में इसका कुछ नियंत्रण भी स्वीकार किया गया है। यह प्रथा सामान्य परम्परागत व्यवसाय अथवा सामान्य उत्पत्ति पर बल देते हुए साधारणतः एक समान समुदाय निर्मित करने में समर्थ होती है।”²⁸

‘एन०के० दत्त’ जाति—व्यवस्था के सम्बन्ध में लिखते हैं कि— “जाति—व्यवस्था में ऊँच—नीच की भावना रहने के कारण इसमें सामाजिक दूरी होती है। ऊँच—नीच का यह संस्तरण जन्म पर आधारित होता है। ब्राह्मणों की स्थिति सबसे ऊँची और शूद्रों की सबसे नीची है। यह संस्तरण एक जाति को दूसरी जाति से उच्च—निम्न घोषित करता है। वरिष्ठता और श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए विभिन्न जातियों का प्रयत्न ही उनका संघर्ष कहा जा सकता है।”²⁹ ऐसी स्थिति में किसी जाति का क्रम निश्चित नहीं हो पाता। लेकिन इतना अवश्य है कि इन जातियों में ऐसी स्पर्धा है, जो एक—दूसरे से अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए प्रयास किया करती है। ‘विजय कुमार अग्रवाल’ का कथन है कि — “इस जातिवाद ने भारतीय समाज को केवल खण्डों में ही विभाजित नहीं किया, बल्कि उच्च सवर्ण जाति द्वारा निम्न जाति के शोषण को सामाजिक मान्यता भी दी; जिससे समाज केवल जाति के आधार पर ही नहीं बल्कि धन की श्रेणियों के आधार पर भी विभाजित हो गया, जिसके परिणामस्वरूप एक अखण्ड समाज की स्थापना नष्ट हो गई।”³⁰

‘प्रो० एम०एन० श्रीनिवास’ ने सन् 1951 में सर्वप्रथम ‘संस्कृतीकरण की अवधारणा’ का प्रयोग किया था, कि यह ‘पश्चिमीकरण की अवधारणा’ के अनुरूप स्वयं भारत में, अंगीकरण के प्रति एक परिचायक व्यवहार था। प्रो० श्रीनिवास के

विचार से “संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई ‘नीच’ हिन्दू जाति, या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः ‘द्विज’ जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है। आम तौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति, परम्परा से स्थानीय समाज द्वारा सोपान में जो स्थान उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक, बल्कि वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक, दावा किए जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है।”³¹

सामाजिक गतिशीलता के बारे में ‘प्रो० श्रीनिवास’ लिखते हैं कि—
 “सामाजिक गतिशीलता की इच्छा जाति-समूहों के माध्यम से मुखर हुई। क्षैतिज एकीकरण में वृद्धि के कारण, जो संचार-साधनों में सुधार के साथ हुई, विस्तृत क्षेत्र में रहने वाली सम्बद्ध जातियाँ गतिशीलता की प्रक्रिया में खिंच आईं। देश के विभिन्न भागों में जातीय संघ बनने लगे और प्रत्येक संघ ने अपनी जाति की सामाजिक और आर्थिक उन्नति को अपना लक्ष्य बनाया। बहुत से संघों ने जाति के कल्याण के लिए पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, अपनी-अपनी जाति के छात्रों के लिए छात्रावास बनाने और उन्हें छात्रवृत्तियाँ प्रदान करने के लिए धन जमा किया, और जाति के रीति-रिवाजों में सुधार के कार्यक्रम अपनाए। इन सुधारों का उद्देश्य साधारणतः जीवन-शैली और कर्मकाण्ड का संस्कृतीकरण और कभी-कभी विवाह और मृत्यु के अवसरों पर खर्च में कमी करना, होता था।”³²

‘संस्कृतीकरण’ की निम्न से ऊर्ध्वगामी परम्परा की अवधारणा में संशोधन करते हुए समाज विज्ञानी ‘प्रो० योगेन्द्र सिंह’ इसे ऐतिहासिक एवं प्रकरणगत खानों में बाँटते हैं— “हम इन्हें ऐतिहासिक एवं प्रकरणगत विशिष्ट संस्कृतीकरण अभिधान कह सकते हैं। ऐतिहासिक विशिष्ट संदर्भ में संस्कृतीकरण भारतीय इतिहास की उन प्रक्रियाओं को संदर्भित करता है। जिनके द्वारा विभिन्न जातियों के स्तर,

नेतृत्व एवं सांस्कृतिक पद्धति में परिवर्तन विभिन्न कालों में घटित हुए। यह भारत के बहुआयामी ऐतिहासिक फलक पर हुए परिवर्तनों के अन्तर्जातीय स्वरूप का सूचक है। संस्कृतीकरण के 'प्रकरणगत' विशिष्ट संदर्भ द्वारा निम्न जातियों के उच्च जातियों का सांस्कृतिक अनुकरण की समकालिक पद्धति संकेतित होती है। इस प्रकार का संस्कृतीकरण सम्पूर्ण भारत में समरूप नहीं है क्योंकि यह सांस्कृतिक रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं के अनुकरण में भिन्न होता है— सांस्कृतिक, हिन्दू परम्परागत रूपों, जनजातीय और यहाँ तक कि इस्लामी प्रभावों का भी अनुकरण होता है।³³

अनुसूचित जाति व पिछड़े वर्ग के संगठनों व आन्दोलनों ने जिस रूप में अपने शोषण और दमन के विरोध में बहुत तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है, और उच्च जातियों को संगठित करने में बहुत मदद की है। आजकल उच्च जातियाँ योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा, नौकरियाँ और पदोन्नति देने की माँग कर रही हैं। इधर कमजोर तबकों को सवर्ण हिन्दुओं के स्तर तक लाने के लिए अनुसूचित जातियाँ एवं अन्य पिछड़े वर्ग के सदस्य संरक्षणात्मक भेदभाव और आरक्षण की नीतियों की अवधि बढ़ाने की माँग कर रहे हैं। इस प्रकार अपने हित-स्वार्थ को लेकर सवर्ण और अवर्ण के बीच जातिवाद की ओट में 'वर्ग-युद्ध' होने लगा है। 'ए०आर० देसाई' के शब्दों में— "आजादी के बाद से संविधान में अंतर्निहित सिद्धान्तों के अनुरूप सरकार के तथा संगठित निजी सेवाओं के पदों पर नियुक्तियाँ मूलतः उपलब्धियों के अनुसार होती हैं, ऊपर से आरोपित करके और हर क्षेत्र में होड़ में जुटी हुई मुनाफाधर्मी बाज़ार अर्थव्यवस्था के अनुसार नहीं। इस प्रवृत्ति ने जाति-व्यवस्था के बुनियादी संयोजन को समाप्त कर दिया है और उनके पीछे की शक्तियों ने जातियों को प्रतियोगितात्मक संगठनों में बदल दिया है। हर संगठन जाति के संसाधनों को संगठित करता है, जाति की आर्थिक तथा अन्य सम्पत्ति को एकत्रित करता है, अपने सदस्यों की शिक्षा-दीक्षा के लिए

अनुकूल स्थितियाँ तैयार करता है, चुनावों में जाति के उम्मीदवार का समर्थन करता है, उपजातियों को अपने में सम्मिलित करके अपनी जाति की मोल-भाव करने की क्षमता बढ़ाता है और उसके आधार को विस्तार देता है।”³⁴

‘रजनी कोठारी’ ने जाति का राजनीति में तथा राजनीति का जाति में दखलंदाजी का विश्लेषण करते समय, आजादी के बाद राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रगति को तीन स्थितियों में बाँटा है। पहली स्थिति में उसका कहना है कि राजनीतिक सत्ता संघर्ष समृद्ध और उदीयमान जातियों तक सीमित था। दूसरे चरण में निम्न जातियों में गतिशीलता आई है तथा वे स्वयं राजनीतिक क्षेत्र में पहुँच रहे हैं। उनके शब्दों में— “राजनीति जाति से प्रभावित नहीं है बल्कि जाति का राजनीतिकरण हो रहा है। उपनिवेश के बाद भारत में मताधिकार का विस्तार होने के बाद, प्रत्येक सामाजिक समूह और उपसमूह विकास प्रक्रिया में भाग लेने के लिए गतिशील हुआ है तथा राज्य नौकरशाही में जगह बनाने के लिए मुकाबले में है। इस प्रकार भारतीय राज्य तंत्र अभिभावी जातियों द्वारा नियंत्रित है। राजनीतिक दल भारत जैसे विकासशील समाज में विद्यमान विघटन को बढ़ावा दे रहे हैं।”³⁵

‘प्रो० योगेन्द्र सिंह’³⁶ ने ग्रामीण भारत में संरचनात्मक संगठन का विश्लेषण करते हुए जाति आधारित ग्रामीण अभिजनों के उदय को दिखाया है। हरित क्रान्ति, नगरीकरण और आधुनिकीकरण के दूसरे कारणों से ग्रामीण अभिजनों के नये रूप का उदय हुआ है जो मूलतः जाति आधारित ही है। ‘प्रभु जाति’ और ‘ग्रामीण अभिजन’ की संरचनाओं में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है।

जातिवाद ने अनेक विसंगतियों को भी जन्म दिया है। आज जाति के नाम पर वोट बैंक भरने की धुन में राजनीतिक दल और राजनेता जनतंत्र की मूल मान्यताओं को भी रौंदते जा रहे हैं। जनतंत्र की मूल मान्यता तो वह है कि राज्य

जनता की मनोकांक्षाओं का क्रियान्वयन राजनीतिक दल और सरकार करने के लिए तत्पर रहे। जनतान्त्रिक मर्यादा यह है कि जनता की इच्छानुसार, उनके संकेतों पर सरकार की सम्पूर्ण गतिविधि धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद न करते हुए होनी चाहिए। लेकिन वस्तु स्थिति ठीक इसके विपरीत है। जनता को, विभिन्न संचार-माध्यमों का दुरुपयोग करके, जाति-निरपेक्षता का कड़वा घूँट पिलाया जाता है, उन्हें राजनीतिक उपदेश दिया जाता है, आत्मनियन्त्रण की अच्छाईयाँ समझायी जाती हैं, किन्तु सरकार का सारा कार्य जातिवादी आधार पर हो रहा है। यदि किसी प्रदेश के शासनतंत्र पर गौर किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पूरी कथा जातीयकरण की गाथा है। राज्य का राज्यपाल, राज्य का मुख्यमंत्री जिस जाति का होगा, प्रशासन के मुख्य पदों पर उसी जाति के व्यक्ति आसीन होंगे। जातिवादी झोली में सारे महत्वपूर्ण पद घुस जाते हैं। यह कैसा जनतंत्र है जिसमें अपने संविधान के विश्वासों के अनुरूप व्यवहार के लिए लोग स्वतंत्र नहीं हैं, हर काम करने में 'अडंगा' लगा है। हर अलगे कदम पर 'जाति बैरियर' हमें मुँह चिढ़ा रहा है, हमारी गति रोक रहा है।

(iii) पंचवर्षीय योजनाएँ —

भारतीय संविधान में लिखा गया है कि स्वाधीन भारतीय राजनैतिक व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय करने, चिन्तन, अभिव्यक्ति, मान्यताओं एवं धर्म की स्वतन्त्रता, प्रस्थिति व अवसरों की समानता एवं भ्रातृत्व की स्थापना करना है। इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये एक महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में सन् 1950 में 'राष्ट्रीय योजना आयोग' को राष्ट्र के प्राकृतिक एवं मानवीय स्रोतों को जाँचने का कार्य सौंपा गया। इसे आर्थिक विकास के लिये इन स्रोतों को संगठित करने के लिये पंचवर्षीय योजनाएँ बनानी पड़ीं। पहली पंचवर्षीय योजना (1951-1956) प्रारम्भ होने के समय देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक शोषण से यद्यपि छुटकारा मिल गया था लेकिन भारत विभाजन से अर्थव्यवस्था को जो आघात पहुँचा था, वह कम नहीं था। इसलिए स्वतंत्रता के तत्काल बाद आर्थिक विकास की योजना पर काम कर पाना संभव नहीं था। अतः प्रथम योजना में केवल दो बातों पर ध्यान देना निश्चित हुआ :-

- (i) दूसरे विश्वयुद्ध और देश के विभाजन से उत्पन्न समस्याओं को हल करना।
- (ii) देश की अर्थव्यवस्था के आधार को मजबूत करना जिससे भविष्य में आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तेज कर पाना सम्भव हो।

पहली योजना ने सबसे ज्यादा प्राथमिकता कृषि को प्रदान की, ग्रामीण पुनः निर्माण कार्यक्रम और भूमि सुधार, जिसमें विभिन्न सिंचाई और विद्युत-शक्ति परियोजनाओं को प्रारम्भ किया गया। लेकिन भूमि सुधार को लागू करने की विसंगतियों ने और निजी हितों की रक्षा की मंशा ने पहली योजना के लक्ष्यों को पाने में अड़चनें खड़ी कीं जिससे पहली ही योजना के समुचित लक्ष्यों को पाने में हम पिछड़ गये। इससे पैदा होने वाली प्रत्यक्ष स्थितियों के उदय के रूप में दूसरी योजना का खाका तैयार किया गया।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956—1961) का प्रारूप 'प्रो० पी०सी० महलानबीस' ने तैयार किया था। 1954 में संसद ने घोषणा की कि समाज में आय व सम्पत्ति में अधिक समता के लिए आर्थिक नीति को समाजवादी नमूने को हासिल करना होगा। इस प्रकार दूसरी योजना का मुख्य लक्ष्य विकास के उस प्रतिरूप को बढ़ावा देना था जिसके द्वारा भारतीय समाज में समाजवादी अभिरचना का निर्माण हो सके। इस योजना के मुख्य लक्ष्य थे —

- (i) राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत की वृद्धि।
- (ii) तीव्र औद्योगिकीकरण तथा मूल व भारी उद्योगों के विकास पर जोर।
- (iii) रोजगार अवसरों का अधिक विस्तार।
- (iv) आय व सम्पत्ति की असमानताओं में कमी तथा आर्थिक शक्ति का और अधिक समान वितरण।

दूसरी योजना की सबसे बड़ी विसंगति यह थी कि प्रत्यक्षतौर पर औद्योगिकीकरण के लक्ष्य के समाजवादी ढाँचे को रखते हुए भी लाभ के उद्योग निजी क्षेत्र में रखे गये और निवेश के उद्योग, सार्वजनिक क्षेत्र में। परिणामतः आर्थिक दबाव और कर्ज अर्थ व्यवस्था के स्थायी सच बन गये।

तीसरी पंचवर्षीय योजना, (1961—1966) जो आत्म निर्भरता पर केन्द्रित थी, के तत्काल उद्देश्य थे —

- (i) प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत से ऊपर की वृद्धि।
- (ii) खाद्य-पदार्थों में आत्मनिर्भरता अर्जित करना तथा उद्योग व निर्यात की जरूरतों को पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना।
- (iii) मूल उद्योगों जैसे इस्पात, रसायन, ईंधन और ऊर्जा का विस्तार तथा कल-पुर्जे निर्माण क्षमता की स्थापना जिससे कि आगे औद्योगिकीकरण की

जरूरतों को दस वर्षों के अंतराल के भीतर पूरा किया जा सके या मुख्यतः देश के अपने संसाधनों का पूर्ण उपयोग हो सके।

- (iv) देश की जन-शक्ति का भरपूर इस्तेमाल और रोजगार अवसरों का संतोषजनक विस्तार।
- (v) अवसरों की अधिक समानता को स्थापित करना तथा आय व सम्पत्ति की असमानताओं में कमी तथा आर्थिक शक्ति का और अधिक वितरण।

राजनीतिक और शिक्षा के लक्ष्यों पर तीसरी योजना तक भी कोई ठोस कदम न उठाने से देश के समक्ष अशिक्षित मतदाताओं और अकुशल मजदूरों की फौज पनपने लगी, आर्थिक गिरावट की मार से यह स्थिति और खराब हुई। युद्ध के प्रभावों ने इस सब पर और बुरा असर डाला।

तीन वार्षिक योजनाएँ सन् 1966 से सन् 1969 तक चलायी गयीं। परन्तु सन् 1965 के भारत-पाक तनाव, प्रचंड अकाल के दो साल, मुद्रा का अवमूल्यन, मूल्यों में वृद्धि तथा योजना प्रयोजन के लिए मौजूद संसाधनों में कमी के फलस्वरूप चौथी योजना के अंतिम रूप को तैयार करने में विलम्ब हुआ। इसी कारणवश चौथी योजना की जगह तीन वार्षिक योजनाओं को तैयार किया गया। ये योजनाएँ किसी दूरगामी लक्ष्य को अपने केन्द्र में रखकर नहीं बनीं, ये एक प्रकार के क्षतिपूरक प्रकरण ही अधिक थे।

चौथी पंचवर्षीय योजना (सन् 1969-1974) में रोजगार व शिक्षा के द्वारा समाज के कमजोर तबकों की स्थिति को सुधारने पर जोर दिया गया। समानता व सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का लक्ष्य रखा गया। इस योजना में दूसरी और तीसरी योजना की अपेक्षा, कृषि व सहायक गतिविधियों को अधिक महत्व देने की बात कही गई।

चौथी पंचवर्षीय योजना तक आते-आते 'बापू राज' हावी होने लगा था। अब यह एक बीमारी बनने लगा कि योजनाएँ लागू किस तरह हों, बड़े-बड़े आर्थिक व्यय कागजी बनकर रह गये। शिक्षा और बेरोजगारी देश की गम्भीर समस्या बन गये। शिक्षा के सम्बन्ध में 'मेराज अहमद' लिखते हैं कि —“शिक्षा पर चौथी पंचवर्षीय योजना तक कुल 21225 करोड़ रुपये व्यय किये गये हैं और इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कोई भी बालक शिक्षा के अवसर से वंचित न रहे। प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम भी देश में चलाया गया है परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में तार्किक और रचनात्मक नीति के अभाव के कारण, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता, अज्ञानता एवं अन्धविश्वास की समस्याएँ आज भी सामान्य रूप में मौजूद हैं।”³⁷

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 1974—1979) के दौरान अर्थव्यवस्था घोर मुद्रा स्फीति दबावों को झेल रही थी। यद्यपि आत्म निर्भरता और गरीबी रेखा के नीचे रह रहे लोगों के खपत स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विभिन्न तरीकों को अपनाना इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे परन्तु स्फीति को नियंत्रण में रखने तथा आर्थिक स्थिति में स्थिरता लाने पर भी जोर दिया गया। लक्ष्य यह रखा गया कि पाँचवी योजना के आखिरी वर्ष तक गरीबी दूर हो जाएगी तथा उपभोग वितरण में असमानताएँ कम हो जाएँगी। अंतिम वर्ष के लिए समष्टि अर्थशास्त्रीय (Micro-economic) लक्ष्य जैसे पूँजी निर्माण, निर्यात, आयात इत्यादि के लक्ष्य इस ढंग से निर्धारित किए गए कि उनका कुल उपभोग के लक्ष्य के साथ ताल-मेल हो।

‘गरीबी हटाओ’ का राजनीतिक नारा वास्तविक धरातल पर ‘गरीब हटाओ’ के रूप में ही परिलक्षित हो पाया। गरीबी का पैमाना पुराना ही चलता रहा। आय के लक्ष्य इतने सालों में निश्चित रूप से मुद्रास्फीति के अनुपात में भले ही कम थे पर पहले से अच्छे हुए थे जिससे गरीबी की रेखा से नीचे के लोगों की संख्या को

कम बताने में आसानी हुई। गरीबी के पैमाने को बदलने पर अधिक ध्यान देने का ही परिणाम है कि आज (सन् 2013) में भी 27 रु० प्रति व्यक्ति आय वाला व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे माना जाता है। जबकि दैनिक मजदूरी 200 रु० है।

‘ए०आर० देसाई’ का मत है कि —“आज़ादी के बाद से भारत के शासकों का लक्ष्य पूँजीवादी नींव पर आधारित समाज का विकास रहा है। कांग्रेस और जनता, दोनों सरकारों ने विकास का पूँजीवादी रास्ता, अपनाया है। इस रास्ते को ‘समाजवादी पैटर्न’ का चोला पहनाया गया हो, या ‘न्याय के साथ संवृद्धि’ का, ‘गरीबी हटाओ’ का या ‘गाँधीवादी विकास’ का—इस सारी नारेबाजी को एक में गूँथने वाला सूत्र, इन सबका सारतत्व है विकास के रास्ते की पूँजीवादी धुरी।”³⁸

छठी पंचवर्षीय योजना (सन् 1980—1985) में गरीबी के निवारण, लाभदायक रोजगार अवसरों के सृजन तथा तकनीकी व आर्थिक आत्मनिर्भरता के उद्देश्यों को महत्व दिया गया। यह भी कहा गया कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तेज आर्थिक संवृद्धि होना आवश्यक है। परन्तु क्योंकि तेज आर्थिक संवृद्धि के लाभ स्वतः गरीब जनता को प्राप्त नहीं होते, इसलिए इस योजना में कुछ विशिष्ट रोजगार कार्यक्रम जैसे— ‘राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम’ तथा कुछ अन्य गरीबी निवारण के कार्यक्रम अपनाये गए।

इस योजना तक हरित क्रान्ति और श्वेत क्रान्ति जैसे उपाय तक विकास के लिये उठाये गये कदम अपना असर दिखाने लगे थे। ग्रामीण क्षेत्र में राजनीतिक अभिजनों का विकास होने लगा था, शिक्षा के लिये उठाये कदम अपनी अक्षमता दिखा चुके थे। देश समस्याओं से घिर चुका था, साम्प्रदायिकता धीरे-धीरे जड़ें जमा चुकी थी, हर तरफ से मोह भंग की स्थिति ने तमाम तरह के आन्दोलन और उनके दमन का सिलसिला, यही वास्तविकता बन गई थी।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 1985-1990) के मुख्य उद्देश्य वही थे जिनका उल्लेख पहले की योजनाओं में किया गया था। इस तरह इस योजना में भी संवृद्धि, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय पर जोर था। योजना आयोग ने सातवीं योजना में इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक न्याय की दिशा में प्रगति होनी चाहिए और रोजगार विस्तार और गरीबी निवारण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इसलिए रोजगार को एक सीधा और अपने आप में महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया। लेकिन योजना आयोग की राय में रोजगार को स्थायी रूप से बनाये रखने के लिए उसका उत्पादक होना जरूरी है। तात्पर्य यह है कि रोजगार में विस्तार के द्वारा उत्पादन और आय में निरन्तर वृद्धि होनी चाहिए।

नई शिक्षा नीति, उदारवादी सिद्धान्तों का लागू किया जाना, विश्व का एक ध्रुवीय होने की ओर अग्रसर होना ये बड़े परिवर्तन थे जिन्होंने हिन्दुस्तान के भविष्य का एक ब्लू प्रिंट तैयार किया। राजीव गाँधी देश के लिये संचार की नई व्यवस्था लेकर आए, समाजवादी सिद्धान्तों को किनारे रखकर देश को पूँजी के रास्ते पर लाने की कोशिशें होने लगीं। राजनीति के स्तर पर संयुक्त मोर्चा का दौर शुरू हुआ और अनिश्चितता एक स्थाई कारक बन गया। देश की जनता को उसके ही भरोसे छोड़ दिया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना राजनीतिक कारणों से दो वर्ष के लिए स्थगित हो गई और इसलिए सन् 1990-91 और सन् 1991-92 के वर्षों में केवल एक वर्षीय योजनाएँ ही रहीं। आठवीं योजना की अवधि सन् 1992 से सन् 1997 तक थी। इस योजना में मानव विकास पर खास ध्यान दिया गया। रोजगार सृजन, जनसंख्या नियंत्रण, साक्षरता, शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल उपलब्ध कराना, पर्याप्त मात्रा में खाद्य-पदार्थों को उपलब्ध कराना एवं आधारभूत संरचना का विकास इत्यादि सभी

प्राथमिकताओं व कार्यक्रमों का उद्देश्य इसी मानव विकास को प्राप्त करना था। मानव-पूँजी (Human Capital) के विकास के लिए मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने की मौलिक जिम्मेदारी सरकार की मानी गई।

राज्य के कल्याणकारी चेहरे का निखार किसी बड़े संकट का सूचक था। समाजवाद का सिद्धान्त कल्याणकारी राज्य में सिमट गया। निजीकरण के लिये सभी तैयारियाँ की जाने लगीं। शिक्षा से लेकर सार्वजनिक क्षेत्रों के निजीकरण को सिद्धान्त के रूप में लागू करने पर राज्य का ध्यान केन्द्रित हुआ। यह देखने वाली बात है कि एक तरफ साम्प्रदायिक दौर का उभार, दूसरी तरफ निजीकरण की प्रक्रिया का आगे बढ़ना साथ-साथ हुए। इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि साम्प्रदायिकता पूँजीवादी हितों की पोषक ही थी, देखने में सामुदायिक होते हुए भी सामुदायिक हितों से इसका दूर-दूर तक नाता नहीं था।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 1997-2002) का मूल मंत्र 'सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि' था। इसके निम्नलिखित उद्देश्य थे -

- (i) पर्याप्त उत्पादक रोजगार अवसरों के सृजन, गरीबी उन्मूलन, कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्राथमिकता।
- (ii) अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर को तेज करना।
- (iii) खाद्यान्न व पोषक आहार उपलब्ध कराना।
- (iv) पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा सेवाओं, प्राथमिक शिक्षा तथा मकान आदि मूलभूत सेवाएं उपलब्ध कराना।
- (v) जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाना।
- (vi) पर्यावरण सुरक्षा सुनिश्चित करना।
- (vii) स्त्रियों तथा सामाजिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों का विकास करना।

(viii) पंचायती राज संस्थाओं, सहकारी संस्थाओं तथा स्व-सहायता समूहों को विकास के अवसर उपलब्ध कराना तथा आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहन देना।

नौवीं पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि— “हमारी विकास युक्ति इस प्रकार की होनी चाहिए जो हमारे व्यापक और फैले हुए निजी क्षेत्र को इतना सक्षम बना सके कि वह उत्पादन में वृद्धि, रोजगार अवसरों के सृजन तथा समाज के आय स्तर में वृद्धि कर पाने की अपनी पूरी संभावनाओं को प्राप्त कर सके। आर्थिक प्रतिस्पर्धा और मुक्त बाजारों के अनुशासन में कार्यरत शक्तिशाली निजी क्षेत्र दुर्लभ संसाधनों के कुशल प्रयोग को प्रोत्साहित करेगा जिससे न्यूनतम लागत पर तेज आर्थिक विकास हो सकेगा। इसलिए हमारी नीतियों से ऐसा माहौल बनना चाहिए जिससे यह परिणाम पा सकने में सहायता मिले।”³⁹

पूँजीवाद के खुलेपन ने वे तमाम सवाल उठाये जो समाजवाद के मेटास्ट्रक्चर के सिद्धान्त में दब गये थे। हाशिये के सवालों पर जोर देने से राज्य के कल्याणकारी चेहरे को निखारने में मदद मिलती थी। पर वास्तव में विकास के कारण प्रभावित होने वाले सीमान्तों को इतना निरीह बना दिया गया कि अब विरोध की संस्कृति जैसी चीज देश में नहीं रह गयी।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 2002–2007) में मानव विकास व कल्याण बढ़ाने की बात की गई तथा इस उद्देश्य के लिए निम्नलिखित प्राथमिक लक्ष्य निर्धारित किए गए:—

- (i) सन् 2007 तक गरीबी अनुपात में 5 प्रतिशत तथा सन् 2012 तक 15 प्रतिशत बिन्दु तक की कमी।
- (ii) दसवीं योजना की अवधि में कम से कम उन लोगों को जो श्रमशक्ति में शामिल होंगे लाभकारी तथा उच्च गुणात्मक रोजगार की उपलब्धि।

- (iii) सन् 2003 तक सभी बच्चों के लिए स्कूल का लक्ष्य ताकि सन् 2007 तक सभी बच्चे 5 वर्ष तक की स्कूल शिक्षा प्राप्त कर चुके हों।
- (iv) साक्षरता तथा मजदूरी दरों में पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच के अन्तर में सन् 2007 तक कम से कम 50 प्रतिशत की कमी।
- (v) सन् 2001 से 2011 की दस वर्षीय अवधि में जनसंख्या वृद्धि की दर को 16.2 प्रतिशत तक कम करना।
- (vi) योजना अवधि में साक्षरता दर को 75 प्रतिशत तक पहुँचाना।
- (vii) सन् 2007 तक बाल मृत्यु दर (Infant mortality rate) को 45 प्रति हजार तक और सन् 2012 में 28 प्रति हजार तक गिराना।
- (viii) मातृ मृत्यु दर को सन् 2007 तक 2 प्रति हजार तक तथा सन् 2012 में 1 प्रति हजार तक गिराना।
- (ix) सन् 2007 तक वन-अधीन तथा वृक्ष-अधीन क्षेत्र को 25 प्रतिशत और सन् 2012 तक 33 प्रतिशत तक बढ़ाना।
- (x) योजना अवधि के दौरान सभी गाँवों को पीने का पानी उपलब्ध कराना।
- (xi) “सभी प्रदूषित मुख्य नदियों को सन् 2007 तक तथा अन्य अधिसूचित जल स्रोतों को सन् 2012 तक प्रदूषण रहित बनाना।”⁴⁰

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 2007–2012) में ‘अधिक तीव्र और ज्यादा समावेशी संवृद्धि’ (Faster and more inclusive growth) पर जोर दिया गया है। यद्यपि आर्थिक संवृद्धि का लक्ष्य 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया है। तथापि यह कहा गया है कि इस संवृद्धि के व्यापकाधारित लाभ होने चाहिए तथा इससे सभी को समान अवसर मिलने चाहिए— “ग्यारहवीं योजना के इस व्यापक दृष्टिकोण में कई अन्तः सम्बन्धित घटक हैं : तेज संवृद्धि जो गरीबी को कम कर सके तथा रोजगार अवसरों का सृजन कर सके, स्वास्थ्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में गरीब लोगों को अनिवार्य सुविधाओं की उपलब्धि, सभी को समान अवसर, शिक्षा एवं कौशल द्वारा शक्तिकरण

रोजगार अवसरों में वृद्धि (राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम से जिसे और पुख्ता किया गया है), पर्यावरण की सुरक्षा, स्त्री शक्ति को मान्यता तथा बेहतर अभिशासन।”⁴¹

दसवीं और ग्यारहवीं योजनाओं ने विकास की विसंगतियों से निजात पाने के लिये ठोस उपाय करने का दावा किया। जन आधारित योजनाओं को महत्व दिया। लेकिन बाज़ार को दी गई खुली छूट इन सारे प्रयासों को निगलती गई। बाज़ार आधार मूल्य व्यवस्था ने कीमतें आसमान पर पहुँचायीं। उत्पादन क्षेत्र सिकुड़ कर छोटा हो गया और बाज़ार क्षेत्र बढ़ता गया। वर्तमान हालात देखे जा सकते हैं कि विकास के कारण कृषि योग्य भूमि लगातार सिमटती जा रही है गाँव में बाज़ार की घुसपैठ पूरी तरह हावी है, रोजगार के नाम पर सिर्फ दुकान का महत्व कम से कम ग्रामीण लोगों के लिये बढ़ा है। गरीबी-अमीरी की खाई पहले से बहुत बड़ी हो गयी है। योजनाओं को लागू करने से भ्रष्टाचार जैसी समस्या ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया है।

(v) अन्य शासकीय योजनाएँ —

ग्रामीण विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं के साथ-साथ सरकार ने कई एक योजनाएँ ऐसी शुरू कीं जो सीधे जनता को सुविधा और अवसर मुहैया कराती थीं। इनका मूल उद्देश्य यह रहा कि सरकारी योजना की मद में ज्यादा से ज्यादा जनता आये। इन्हें लागू करने में स्थानीय ग्राम पंचायतों को और लाभार्थियों में ग्रामीण गरीबों को अधिक अवसर दिये गये। इन योजनाओं में निम्न पर विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है।

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम (National Rural Employment Programme) ग्रामीण जनसंख्या के उस हिस्से के लिए बनाया गया था जिनके पास साल के कुछ महीनों में कोई काम नहीं होता और जो अधिकतर मजदूरी रोजगार पर निर्भर करते हैं। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम 'काम के बदले अनाज कार्यक्रम' (Food for Work Programme) कहलाता था। यह सन् 1976-77 में बनाया गया था परन्तु वास्तव में यह 1 अप्रैल 1977 से प्रभावी हुआ। इसके अन्तर्गत निम्नांकित कार्य किये गये ; बाढ़ से बचाव, विद्यमान सड़कों की मरम्मत, नई सम्पर्क सड़कों की व्यवस्था, सिंचाई सुविधाओं में सुधार, पंचायत घरों, स्कूल भवनों, चिकित्सा और स्वास्थ्य केन्द्रों का निर्माण और ग्रामीण क्षेत्रों में सफाई करने की स्थितियों में सुधार। इस कार्यक्रम को सन् 1989-90 में जवाहर रोजगार योजना का अंश बना दिया गया।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme) निर्धनता को दूर करने के लिए सरकार का एक प्रमुख उपकरण है। इसका उद्देश्य चुनिन्दा परिवारों को कई प्रकार के कार्यों में स्व-रोजगार दिलाकर निर्धन रेखा को पार कराना है। ऐसे कार्य निम्नांकित हैं ; कृषि, बागवानी और पशु-पालन तो प्रथम क्षेत्र में, बुनाई और दस्तकारी द्वितीय क्षेत्र में, सेवा और व्यापारिक गतिविधियाँ तृतीय क्षेत्र में। आई0आर0डी0पी0 (1976) का उद्देश्य यह

देखना है कि न्यूनतम निश्चित संख्या के परिवार एक प्रदत्त लागत और प्रदत्त समयावधि में निर्धन रेखा को पार कर सकें।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान 1.5 करोड़ परिवारों को सहायता के लक्ष्य के विपरीत 1.65 करोड़ परिवारों को सहायता प्रदान की गई जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकें और निर्धन रेखा से ऊपर उठ सकें। सातवीं योजना में 2,643 करोड़ रुपये की लागत का अनुमान था और लक्ष्य क्षेत्र दो करोड़ लाभ भोगियों का था। सन् 1985 के अन्त तक वह परिवार अति निर्धन समझा गया जिसकी वार्षिक आय 3500 रु० थी तथा वह परिवार दरिद्र था जिसकी वार्षिक आय 1225 रु० से कम थी। इसमें इसका ध्यान नहीं रखा जाता था कि उस परिवार में कितने सदस्य हैं। परन्तु 16 दिसम्बर 1985 को यह परिभाषा बदल दी गई और उसके अनुसार दरिद्र वह माना गया जिसकी वार्षिक आय 6,400 रु० थी और अनुदान की राशि भी 3000 रु० से बढ़ाकर 6000 रु० प्रति परिवार कर दी गई।

ग्रामीण युवकों को रोजगार के लिए प्रशिक्षण (Training of Rural Youth for self Employment)की योजना 15 अगस्त 1979 को प्रारम्भ की गई। इसका उद्देश्य ग्रामीण युवाओं को तकनीकी ज्ञान देने से है ताकि वे कृषि, उद्योग, नौकरियों और व्यापारिक गतिविधियों के क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त कर सकें। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक खण्ड (Block) से 40 युवकों को प्रशिक्षण के लिए चुना जाता था। इस प्रशिक्षण के लिए वे ही युवा पात्र थे जो 3500 रु० वार्षिक आय से कम आय वाले ग्रामीण परिवारों से थे। इस योजना में एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित थे।

छठी योजना के अन्तर्गत 10.05 लाख युवाओं को प्रशिक्षण देने का लक्ष्य था लेकिन वास्तव में 9.4 लाख व्यक्तियों को ही प्रशिक्षण दिया जा सका। इनमें से 4.64 लाख व्यक्तियों ने अपने आपको रोजगार में लगा लिया। प्रशिक्षण पाने वालों में 34.8

प्रतिशत महिलाएँ और 31.5 प्रतिशत अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के थे। सातवीं योजना में प्रशिक्षणार्थियों को 75 रु० से 200 रु० प्रतिमाह तक वज़ीफा दिया जाता था। इस योजना में 8.73 लाख और 1990-91 से 1998-99 तक नौ वर्षों में 23.28 लाख ग्रामीण युवकों को इस योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण दिया गया। अप्रैल 1999 में इस योजना को 'स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना' में मिला दिया गया।

अन्त्योदय कार्यक्रम (Antyodaya Programme) को राजस्थान सरकार ने 2 अक्टूबर सन् 1977 में उन लोगों की विशेष सहायता प्रारम्भ किया जो निर्धन रेखा से नीचे थे। अन्त्योदय का अर्थ है, 'उन लोगों का विकास जो सबसे नीचे स्तर (अन्त) पर हैं, यानि दरिद्रों में दरिद्रतम।' योजना यह थी कि प्रतिवर्ष प्रत्येक गाँव में से (33,000 गाँवों में से) पाँच सबसे निर्धन परिवारों का चयन किया जायेगा और उनकी आर्थिक उन्नति के लिए सहायता दी जायेगी। प्रारम्भ में 25 गाँवों का जो राज्य के विभिन्न पर्यावरण वाले क्षेत्रों में बसे हुए थे, दैव प्रतिचयन (Random Sampling) किया गया और व्यक्तिगत परिवारों के बारे में निम्न मदों में सूचना एकत्रित की गई ; ऋण की स्थिति, निर्भरता का अनुपात, जमीन की भौतिक परि सम्पत्ति, पशु, व्यवसाय, शिक्षा का स्तर, आय और परिवार का आकार।

परन्तु राज्यों में राजनीतिक परिवर्तनों ने कार्यक्रम पर विपरीत प्रभाव डाला, सब मिलाकर यह योजना पूर्णतया असफल रही। असफलता के प्रमुख कारण थे : परिवारों के चयन में पक्षपात, अधिकारियों के सहयोग का अभाव, ऋण देने में विलम्ब और उत्तर रक्षा कार्य (After Care Work) की अवहेलना।

जवाहर रोजगार योजना (Jawahar Rozgar Yojna) की घोषणा अप्रैल 1989 में हुई थी। इस योजना के अन्तर्गत यह आशा की जाती है कि प्रत्येक निर्धन परिवार के कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में 50 से 100 दिनों तक उसके आवास के निकट काम के स्थान पर रोजगार दिलाया जाएगा। इस योजना के अन्तर्गत लगभग 30 प्रतिशत काम महिलाओं के लिए आरक्षित हैं। दो ग्रामीण

मजदूरी कार्यक्रमों (राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी योजना) को भी इस योजना में मिला दिया गया है। इस योजना की कार्यान्विति ग्राम पंचायत के माध्यम से होती है। पंचायतों, जिनकी जनसंख्या 4000 से 5000 व्यक्तियों के बीच होती है, को 80 हजार रुपये से एक लाख रुपये की वार्षिक वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

अन्य योजनाओं की तरह 'जवाहर रोजगार योजना' में भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हुईं। इसमें आवंटित राशि का पूरा उपयोग कभी नहीं किया गया, इस योजना में पिछले तीन वर्ष में भी रोजगार सृजन (मानव दिवस उपलब्ध कराना) का मूल लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका, व्यय की जाने वाली राशि का बड़ा भाग ठेकेदारों व बिचौलियों के पास चला जाता है। व्यय की राशि का एक बहुत छोटा भाग ही वास्तव में ग्रामीण बेरोजगारों तक पहुँच पाता है, 'मस्टररोल' में फर्जी नाम लिखकर श्रमिकों की मजदूरी उड़ा लेना तथा उसे बाँट लेने की प्रवृत्ति आम बात है, जिन एजेन्सियों (पंचायत) के माध्यम से यह योजना क्रियान्वित की जाती है उनकी भी इस योजना में कोई विशेष रुचि नहीं है। अतः जिन उद्देश्यों के लिए यह योजना प्रारम्भ की गई थी उनकी पूर्ति में यह पूरी तरह विफल रही है।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (NREGA) का शुभारम्भ प्रधानमंत्री डॉ० मनमोहन सिंह ने 2 फरवरी 2006 को आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले से किया। पहले चरण (2006-07) के कार्यान्वयन के लिए चयनित 200 जिलों में वह 150 जिले शामिल थे, जहाँ 'काम के बदले अनाज' (Food for Work) कार्यक्रम पहले से चल रहा था। 'काम के बदले अनाज योजना' व 'सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना' का विलय अब इस नई योजना में कर दिया गया है।

1 अप्रैल 2008 से इस योजना को सम्पूर्ण देश में लागू कर दिया गया है, वर्ष 2007-08 के दौरान इस योजना के दूसरे चरण का विस्तार 130 अन्य जिलों में किया गया था जिससे 2007-08 के दौरान यह कार्यक्रम 330 जिलों में लागू था।

इसके लिए 2008-09 के बजट में 16,000 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इस योजना के तहत चयनित जिलों में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक परिवार के एक सदस्य को वर्ष में कम से कम 100 दिन अकुशल श्रम वाले रोजगार की गारंटी दी गई है। रोजगार के इच्छुक एवं पात्र व्यक्ति द्वारा पंजीकरण कराने के 15 दिन के भीतर रोजगार न दिए जाने पर निर्धारित दर से बेरोजगारी भत्ता सरकार द्वारा प्रदान किए जाने का प्रावधान है। यह योजना रोजगार के अन्य कार्यक्रमों से बिल्कुल अलग है, क्योंकि यह मात्र एक योजना नहीं, बल्कि एक कानून है जो रोजगार की वैधानिक गारंटी प्रदान करता है। 2 अक्टूबर 2009 को इस योजना का नाम “महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना” (MNREGA) कर दिया गया है।

इन योजनाओं के लक्ष्य पूर्ति के आंकड़े विसंगतिपूर्ण रहे हैं। रोजगार पाने की परिभाषा में पूरे साल रोजगार को शामिल नहीं किया गया है। गरीबी की रेखा के पैमाने में व्यावहारिक रूप का कभी आकलन नहीं किया गया। सरकारी सहायता की राशि पाने की प्रक्रिया की जटिलता ने जनता में कभी भी इनको पाने के प्रति उत्साह नहीं देखा गया। जागरूकता की जरूरत सबसे पहली प्राथमिकता थी, उस पर ध्यान नहीं दिया गया। जो योजनायें जनता के हित बनीं, उनका लाभ बिचौलिये और क्रियान्वयन में लगी मशीनरी को ही मिलता रहा।

(v) निजी क्षेत्र का विकास—

भारत के वर्तमान आर्थिक ढाँचे को प्रायः 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' के नाम से पुकारा जाता है। इस व्यवस्था में उत्पादन के दो क्षेत्र हैं; पहला, निजी क्षेत्र और दूसरा, सार्वजनिक क्षेत्र। स्वतंत्रता प्राप्त होने के समय सार्वजनिक क्षेत्र की क्रियाएं सिंचाई, संचार, रेल, बन्दरगाह, प्रसारण तथा कुछ विभागीय औद्योगिकी संस्थानों तक सीमित थीं। इसके बाद सार्वजनिक क्षेत्र का विकास बहुत तेजी के साथ हुआ। निजी क्षेत्र को सरकार की नीति के विषय में किसी भी प्रकार का भ्रम न हो, इसलिए सन् 1948 तथा सन् 1956 के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्तावों में निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों का स्थान निर्धारित किया गया। मोटे तौर पर भारी और बुनियादी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया। कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र में भी स्थापित किए जा सकते थे। इस श्रेणी में एल्युमिनियम, लघु औजार, औजारी इस्पात, उर्वरक, कृत्रिम रबर, सड़क यातायात आदि 12 उद्योग रखे गए। निजी क्षेत्र के लिए उपभोक्ता माल बनाने वाले सभी उद्योग छोड़ दिए गए।

सन् 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में कहा गया है कि— "निजी क्षेत्र की इकाइयों के लिए अनिवार्य है कि वे राज्य के आर्थिक व सामाजिक नीति ढाँचे में काम करें तथा उन्हें 'उद्योग अधिनियम 1951' तथा अन्य प्रासंगिक कानूनों के नियंत्रण में ही काम करने की अधिकतम स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जहाँ कहीं भी किसी एक ही उद्योग में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों की इकाइयाँ काम कर रही होंगी, वहाँ राज्य नीति यह होगी कि दोनों से समान व्यवहार किया जाए और किसी के साथ पक्षपात न हो।"⁴²

1991 की नई औद्योगिक नीति के साथ ही देश में उदारीकरण का दौर शुरू हुआ। औद्योगिक लाइसेंसिंग को समाप्त कर दिया गया, सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका काफी कम कर दी गई, विदेशी निवेश के लिए द्वार खोल दिए गए तथा निजी क्षेत्र को अपना व्यावसायिक प्रसार करने के लिए कई प्रकार की छूटें, रियायतें व

प्रोत्साहन दिए गए। इस आर्थिक उदारीकरण के कारण निजी क्षेत्र का तेज विकास हुआ। विदेशी प्रतिस्पर्धा के बढ़ने से निजी निगमीय इकाइयों को काफी पुनः संरचना (Restructuring) करनी पड़ी, कुछ इकाइयों ने विलयन व अधिग्रहण (Merger and acquisition) की नीति अपनाई तथा कुछ औद्योगिक घरानों ने अपने कार्यक्षेत्र का पुनः निर्धारण करते हुए कुछ असम्बन्धित व विविध गतिविधियों को छोड़कर अपने मूल उद्योगों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। विकास परियोजनाओं के बारे में 'अजित राय' लिखते हैं— "ये परियोजनाएँ निजी क्षेत्र को तेजी से बढ़ने में मदद करने के लिए उठायी गई थीं। निजी क्षेत्र में बड़े कारोबार भी शामिल हैं। सार्वजनिक क्षेत्र उस आधारिक संरचना को मजबूत करता और बढ़ाता है जिस पर निजी पूँजीवादी औद्योगिक संगठन का भवन विस्तार पा सके।"⁴³

'घनश्याम दास बिड़ला' के शब्दों में — "जो लोग मानते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र के दायरे में पैर पसार रहा है, उनमें दूरदृष्टि का अभाव है। स्थिति तो यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र इस समय भी निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने में जबरदस्त मददगार हो रहा है। निजी क्षेत्र में अभी हाल में कई आनुषंगिक उद्योग खड़े किए जा चुके हैं। जब इस्पात संयंत्र पूरी क्षमता तक उत्पादन आरम्भ कर देंगे तब निजी क्षेत्र में और भी अनेक छोटे-मोटे उद्यमी इस्पात और इस्पात की वस्तुओं को बनाने के लिए उठ खड़े होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य अनेक उपक्रमों पर भी यही बात लागू होती है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र तो निजी उद्यमों के प्रजनक का काम करने जा रहा है।"⁴⁴

उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में भी निजी क्षेत्र ने अधिकतर निवेश उन वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए किया जिनकी माँग धनी उपभोक्ता वर्ग करता है। इस प्रकार, निजी क्षेत्र ने ज्यादातर निवेश उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं (जैसे—टेलीविजन, वाशिंग मशीन, म्यूजिक सिस्टम, फ्रिज, एयरकंडीशनर, मोटरसाइकिल, कार इत्यादि) के उत्पादन के लिए किया और आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं में निवेश की अनदेखी

की। इस प्रकार का उत्पादन—ढाँचा छोटे से संवृद्ध धनी वर्ग के अनुरूप है। इस उत्पादन—ढाँचे से निजी क्षेत्र को कम से कम समय में अपना लाभ अधिकतम करने का मौका तो मिलता है परन्तु यह ढाँचा अर्थव्यवस्था की मूलभूत दीर्घकालीन आवश्यकताओं की अनदेखी करता है। देश का आर्थिक अतिरेक (Economic Surplus) अनावश्यक औद्योगिक गतिविधियों में खर्च होता है और उस हद तक, देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

निजी निगम क्षेत्र की बिक्री से आय का काफी बड़ा हिस्सा तेजी से बढ़ती हुई उत्पादन लागतों को पूरा करने में खर्च हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र के लाभ मार्जिन में वृद्धि की बहुत कम दर रही है। कम्पनियाँ अपनी निवल बिक्री में तेज वृद्धि करके अपने निष्पादन में सुधार कर सकती थीं। परन्तु इस प्रयास में भी उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि अर्थव्यवस्था में मंदी की स्थिति बनी रही। योजनाओं में होने वाली तमाम प्रगति के बावजूद भारत के आधारभूत ढाँचे में कई प्रकार की कमियाँ हैं जिनका निजी क्षेत्र के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बाधा बिजली की कमी तथा बिजली क्षेत्र से जुड़ी समस्याएँ हैं।

आर्थिक उदारीकरण के चरण में निजी क्षेत्र की कई कम्पनियों द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में मशीनरी, मध्यवर्ती वस्तुओं व तकनीकी सहायता का आयात किया गया है। ऐसा विदेशी उत्पादकों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों से बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के कारण आवश्यक हो गया है अन्यथा ये कम्पनियाँ प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाएँगी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कम्पनियों का आयात व्यय, उनकी निर्यात आय की तुलना में, बहुत तेजी से बढ़ा है जिससे देश के व्यापार घाटे में वृद्धि हुई है।

सार्वजनिक उद्यमों की तुलना में, निजी क्षेत्र के उद्यमों को औद्योगिक विवादों का अधिक सामना करना पड़ता है। अक्सर वेतन, बोनस, छंटनी तथा कई अन्य मुद्दों को लेकर श्रमिकों और मालिकों में विवाद छिड़ जाता है। यद्यपि औद्योगिक

विवादों के निपटारे के लिए सरकार ने वर्क्स समितियाँ, विवाचन मंडल जैसी कई संस्थाओं का गठन किया है तथापि मालिकों की बेहतर सौदाशक्ति होती है जिसके कारण वे कई बार श्रमिकों की जायज़ मांगों को भी स्वीकार नहीं करते। इसके परिणामस्वरूप हड़तालें, तालाबंदी, घेराव इत्यादि के रूप में औद्योगिक विवाद छिड़ जाते हैं। इससे काम-काज में व्यवधान पड़ता है, श्रम-दिहाड़ियों का नुकसान होता है। तथा उत्पादन गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सन् 1991 में आरम्भ की गयी औद्योगिक व आर्थिक उदारीकरण की नीति के परिणामस्वरूप भारत में विदेशी कम्पनियों का हस्तक्षेप बढ़ा है और निजी उद्यमों को विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। 'भूमंडलीकरण' और विश्व अर्थव्यवस्था के साथ देश की अर्थव्यवस्था के 'एकीकरण' की आड़ में भारत सरकार ने बहुत सी वस्तुओं के आयातों पर से प्रतिबन्ध पूरी तरह हटा लिए हैं। इतना ही नहीं, विदेशी निवेशकों और बहुराष्ट्रीय निगमों को भारत में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। परन्तु सरकार इस बात को भूल रही है कि 'भीमकाय' बहुराष्ट्रीय निगमों के सामने 'बौने' भारतीय उद्यमों की औकात ही क्या है। उदारीकरण के आरम्भिक जोश में, निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों ने 'खुली' अर्थव्यवस्था का भरपूर स्वागत किया परन्तु शीघ्र ही उन्हें एहसास हो गया कि भारतीय अर्थव्यवस्था को विदेशी प्रतिस्पर्धा के लिए खोलने से न केवल देश में सस्ते व गुणात्मक रूप से बेहतर आयातों का प्रवेश होने लगता है अपितु बहुराष्ट्रीय निगमों को भी मौका मिलता है कि वे देश की मजबूत व बेहतर निजी औद्योगिक इकाइयों को अपनी आर्थिक शक्ति के बल पर या तो खरीद लें या ध्वस्त कर दें। 'अर्नेस्ट मेंडोल' ने इस बात पर जोर दिया है कि —“किसी देश का गरीब होना ही यह कारण नहीं है कि उसके पास उद्योगीकरण के लिए वित्तीय संसाधनों की कमी हो। गरीब होने के कारण किसी देश को बाज़ार का अभाव हो सकता है जिससे पूँजीवादी दृष्टिकोण के अनुसार, उद्योगीकरण विशेष मुनाफ़े का सौदा नहीं रहता।

बाज़ार के अभाव के कारण पूँजी का उद्योग से भिन्न अन्य क्षेत्रों में निवेश कर दिया जाता है। इसलिए उद्योगीकरण का स्तर नीचा रहता है, श्रम की उत्पादकता का स्तर नीचा रहता है और देश ग़रीब रह जाता है, जिसका मतलब हुआ कि निजी औद्योगिक उद्यम की कोई प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती। ग़रीबी, ग़रीबी को ही जन्म देती है।”⁴⁵

चूँकि अर्थव्यवस्था किसी भी व्यवस्था की आधार व्यवस्था कहलाती है अन्य सभी संरचनाएँ इसी पर टिकी होती हैं। इस पर पड़ने वाले प्रभाव अन्य संरचनाओं पर दूरगामी प्रभाव डालते हैं। निजीकरण के दौर में अक्सर यही प्रयास रहता है कि हर एक मूल्य से लेकर विचार तक सब उत्पाद बन जाय, वस्तु बन जाय। मूल्य, विचार और क्रियाओं के साथ होने वाले व्यवहार भी वस्तुओं के साथ किये गये व्यवहार से अधिक न हों। जिस तरह दूसरे उत्पाद अपनी मूल्य क्षमता को बाज़ार व्यवस्था से प्राप्त करते हैं और बाज़ार व्यवस्था निजी हिस्सेदारी का क्रमबद्ध नियोजन है। इसलिए विचार आदि भी इसी तरह के सिस्टम के अधीन अपनी मूल्यवत्ता और सार्थकता साबित करते हैं। सबसे उल्लेखनीय बात यह सामने आती है कि इन पर के मूल्य छद्म मूल्य होते हैं जो हर एक स्तर पर और कभी भी (बाज़ार भाव की तरह) बदल सकते हैं। जिससे अनिश्चितता और संकट की स्थिति हमेशा कायम रहती है। साहित्य तथा चिंतन में हर जगह यह संकट, चिन्ताएँ और बौखलाहट देखी जा सकती है। उत्तर उदारवादी समय में यह एक सबसे बड़ी विसंगति है।

(i) भूमण्डलीकरण और उपभोक्तावाद —

आज की दुनिया में 'वैश्वीकरण' की विचारधारा को अपना लिया गया है यह आधुनिकतावादी चिन्तन की अगली कड़ी उत्तर-आधुनिकता का प्रतिफल है। भूमण्डलीकरण यानि धरती के विभिन्न भू-भागों का एक-दूसरे के निकट आना है—मानवीय कार्य व्यापार के जरिए निकट आना है। सामान्य अर्थ में 'वैश्वीकरण' का अर्थ बाजारीकरण, मुक्त बाजार और मान्य अर्थ में इसको 'भूमण्डलीकरण' आदि शब्दों से पुकारा जाता है। जिसको अंग्रेजी में 'Globalization', 'Universalization' कहते हैं। आज 'भूमण्डलीकरण' शब्द का प्रयोग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा पूरी दुनिया को एक चारागाह बनाने की महत्वाकांक्षा से जोड़कर किया जा रहा है। 'कमलनयन काबरा' के शब्दों में— "आज जिसे भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण, जगतीकरण, नवसाम्राज्यवाद, विश्वव्यापी पूँजीवाद, विश्वव्यापी बाजारीकरण, नवउदारवाद का विश्वव्यापी विस्फोट आदि नामों से जाना जाता है, जिसे न केवल आज का यथार्थ माना जाता है बल्कि उसे आज के विश्व की विकल्पहीन, अपराजेय और अपरिवर्तन नियति बताया जा रहा है, उसे वास्तव में विश्वव्यापी कुविकास अथवा मानवता की महकती उपलब्धियों के दुरुपयोगों की दर्दनाक दास्तां के रूप में देखा जाना चाहिए।"⁴⁶ 'अभय कुमार दुबे' के अनुसार— "विकास का जो रास्ता चुना गया था, वह पूँजी की सघनता वाला था। लगभग हर विकासशील देश के पास निवेश के लिए पूँजी की चाह बढ़ती जा रही थी। गैर-पूँजीवादी भूमण्डलीकरण की विफलता और निवेश अन्तराल की समस्या का फायदा उठाकर पूँजीवाद भूमण्डलीकरण में विश्व व्यापार के दायरे में सारी दुनिया को घसीट लिया।"⁴⁷

'ग्लोबलाइजेशन' की स्थिति में बाजार और बाजारवादी नीतियों के कारण हमारी भाषा, साहित्य और संस्कृति सर्वाधिक प्रभावित हुई है— "भूमण्डलीकरण की आक्रामक अपसंस्कृति सहिष्णु भारतीय संस्कृति को विकृत कर रही है। भारतीय

संस्कृति के सत्य, प्रेम एवं संतोष जैसे मूल्य आज हाशिए पर चले गए हैं जबकि असत्य, अन्याय एवं उपभोक्तावाद का बोलबाला हो गया है।⁴⁸ 'श्यामाचरण दुबे' लिखते हैं कि— "संक्रमण के इस दौर में सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास भी एक गम्भीर संकट के रूप में उभर रहा है। वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक विकास और सामाजिक विकास की असमान गति और विसंगतियों से सामाजिक मान्यताएँ क्षीण हो रही हैं और सांस्कृतिक मूल्य विश्रृंखलित हो रहे हैं। सांस्कृतिक लक्ष्यों और साधनों में धुँधलापन आ गया है। परिणाम है एक भोग और लिप्सावादी संस्कृति का विकास। इस प्रक्रिया में देशज चिन्तन का अवमूल्यन हो रहा है और जातीय सृजनशीलता पार्श्व में जा रही है।"⁴⁹ भारत में भूमण्डलीकरण ने संस्कृति के नाम पर 'बाज़ार की संस्कृति' व 'उपभोक्ता की संस्कृति' को जन्म दिया है। 'प्रभा खेतान' का मानना है कि — "भूमण्डलीकरण जीवन के हर कोने, अस्तित्व के हर रूप का वस्तुकरण करता है। बाज़ार में उसकी कीमत निर्धारित करता है। तथा उसकी खरीद-बिक्री करता है।"⁵⁰

एक ओर समाज भूमण्डलीकरण द्वारा राजसत्ता से सामाजिक शान्ति एवं राष्ट्रीय हितों के संरक्षण की माँग करता है तो दूसरी ओर पूँजी संचरण की निर्बाध गति स्वयं राजसत्ता की इसी क्षमता को कमजोर करती है। वरिष्ठ मार्क्सवादी आलोचक 'डॉ० खगेन्द्र ठाकुर' लिखते हैं— "भूमण्डलीकरण के नाम पर जो उदारीकरण और निजीकरण हो रहा है, वह केवल आर्थिक मामला नहीं है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी विकराल पूँजी के आधार पर राजनीति भी करती हैं और वे अपने अनुकूल विचारधारा संस्कृति भी फैलाती हैं। हमारे देश में भारतीय संस्कृति पर नाज करने वाले बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को देश में आकर अपना कारोबार करने, अपनी विचारधारा और संस्कृति फैलाने की छूट दे रहे हैं।"⁵¹ आज राजनीति के सभी आदर्श स्वार्थ की भूलभुलैया में भटक रहे हैं। अवसरवादिता, धूर्तता, उठापटक, आरोप-प्रत्यारोप आज की राजनीति के आवश्यक अंग हैं। किसी भी तरह सत्ता और

कुर्सी को प्राप्त करना इनका उद्देश्य है। ये तरह-तरह के हथकण्डे अपनाकर जनहित का दिखावा करते हुए अपना उल्लू सीधा करते हैं।

‘सच्चिदानन्द सिन्हा’ का मानना है कि — “भूमण्डलीकरण के नाम पर अब औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था और इसकी उपभोक्तावादी संस्कृति को संसार के उन भागों पर लादने का प्रयास हो रहा है जहाँ अभी तक पारम्परिक या गैर-पूँजीवादी व्यवस्थाएँ थीं। अपनी हित रक्षा में अपने चरित्र के कारण पूँजीवाद कहीं भी अनियोजित विकास ही करता है। इससे क्षेत्रीय विषमताएँ उभरती हैं और जहाँ भी इसका पैर पड़ता है वहाँ सम्पन्नता और विपन्नता के ध्रुवों में अंचलों और समूहों का विभाजन होता है। इससे हर जगह आंचलिक या समूहों के बीच संघर्ष उभरते हैं। छोटी खेती और किसानों का अस्तित्व समाप्त होने लगता है और विशाल पैमाने पर बेरोजगारी फैलती है।”⁵²

देश में उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने के लिए स्टारडम को बढ़ावा दिया जा रहा है। हमारे बड़े-बड़े स्टारों ने विज्ञापनों के द्वारा उत्पादों की बिक्री करने का अभियान चला रखा है। ये स्टार पैसे के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं, जो असत्य एवं अयथार्थ है। भूमण्डलीकरण के नाम पर आयी अश्लीलता को हम फिल्मों, विज्ञापनों और स्टेज पर अपना नग्न शरीर दिखाती हुई नारी में देख सकते हैं। सबसे दुखद बात तो यह है कि महिलाओं की आजादी के नाम पर समाज की परिवार संस्था को भी तोड़ा जा रहा है।

भूमण्डलीकरण और उपभोक्तावाद ने अनेक विसंगतियों को भी जन्म दिया है। उपभोक्तावाद आदमी-आदमी के बीच खाई पैदा करता है। सम्पन्न वर्ग निर्धन लोगों के जीने के अधिकार को भी स्वीकार नहीं करता, बल्कि यह उन्हें समान नागरिक या मनुष्य ही नहीं मानता। चूँकि इसी वर्ग का प्रचारतंत्र पर नियंत्रण है, देश में यह भाव भरा जा रहा है कि देश की तरक्की का मतलब देश के तमाम लोगों को

समुचित भोजन, आवास, शिक्षा और रोजगार उपलब्ध कराना नहीं बल्कि मुट्ठी भर लोगों के लिए हवाई यात्रा, वातानुकूलित पाँच सितारा होटलों की जिंदगी और मोबाइल फोन एवं इण्टरनेट की सुविधा प्रदान करना है— “अधिकतम निजी लाभ, व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद जैसी वैचारिकी जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर निर्मित हो रही है, वह भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, पूँजीवाद से पोषित है। यह दर्शन लोकहित के विरुद्ध है। मुट्ठी भर लोग इससे लाभान्वित हो रहे हैं। अमीर और अधिक अमीर हो रहे हैं गरीब और अधिक गरीब हो रहे हैं।”⁵³

भूमण्डलीकरण के बारे में ‘सच्चिदानन्द सिन्हा’ का मत है कि “भूमण्डलीकरण शब्द से यह भ्रम पैदा होता है कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपने छोटे स्वार्थों से ऊपर उठ लोग सारे संसार के मंगल के लिए जुड़ जाएँगे। लेकिन भूमण्डलीकरण के निहितार्थ उसके ठीक उल्टा है। इससे निकलने वाली ‘सब जन हिताय सब जन सुखाय’ की ध्वनि के विपरीत यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूँजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उनके संकेंद्रण के सबसे सबल केन्द्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है। यह सिर्फ व्यापार के लिए दुनिया को एक करना चाहती है— बाकी सारी बातें आनुषंगिक हैं। पूँजीवाद की मृत्यु कामना करते हुए ‘कार्ल मार्क्स’ ने 1948 में ही ‘कम्युनिस्ट घोषणा पत्र’ में इसके गुणों का बखान यों किया था : अपने उत्पादों के बाज़ार की तलाश बर्जुआ को पूरे भूमंडल में दौड़ाती है। इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना है, इसे अपना सम्बन्ध सर्वत्र फैलाना है।”⁵⁴

भारत में भूमण्डलीकरण का हस्तक्षेप और प्रभाव सन् 1990 में उदारीकरण के दरवाजे खोल देने के बाद से शुरू होता है। दुनिया के एक ध्रुवीय होने से इस पर गम्भीर असर पड़ा। ‘उदारवाद’ ने ‘लेससफेयर’ (खुलापन) की नीति के तहत

व्यापारिक कम्पनियों से उन प्रतिबन्धों और नियमों को हटा लिया जो कि राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रम के तहत उन पर लागू होते थे। मूल्य नियन्त्रण की प्रणाली समाप्त हो गयी, सेवा क्षेत्र को उत्पादन क्षेत्र से अधिक, महत्व प्राप्त हो गया, परिणामस्वरूप करों का सीधा बोझ जनता के ऊपर पड़ा। प्रतिस्पर्धा को चरम मूल्य मान लेने से कमजोर तबके दौड़ में और से और पिछड़ते गये। बाज़ार द्वारा प्रमोट की जाने वाली उपभोक्तावादी संस्कृति जन संस्कृतियों पर हावी होने लगी। सांस्कृतिक विभिन्नता जिसे कि मूल्यवान माना जाता था बाज़ारी एकरसता और सादृश्यता के प्रवाह में नष्ट हो गयी या फिर उसके विभिन्नताकारी तत्वों पर प्रायोजक बाज़ारी शक्ति का प्रभुत्व हो गया। शिक्षा, लोकतंत्र, समाज व्यवस्था और यहाँ तक कि कानून के दायरे भी इसी की जड़ में कार्यशील रहने लगे।

भूमण्डलीकरण के प्रभाव से सब कुछ नकारात्मक ही हुआ ऐसा नहीं है। नये तरह की चिन्तन प्रणाली जिस तेजी से फैली उससे सीमान्त सवालों पर सोचने की परम्परा की शुरुआत भी हुई। हाशिये पर पड़े जनजातीय, पर्यावरणिक, दलित, स्त्री, संस्कृति आदि के विभिन्न मुद्दों और सवालों पर बहस आरम्भ हुई। इसी प्रक्रिया में विकास और उसके विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव को लेकर गम्भीर चिन्तन शुरू हुए। भूमण्डलीकरण के प्रभावस्वरूप जो सामाजिक और गैर सरकारी संगठन पैदा हुए उन्होंने विकास से जुड़े तमाम सवालों को गम्भीरता से उठाया।

2.2 विकास के द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में विसंगतियाँ

विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो अपने भीतर समाज के विभिन्न क्षेत्रों को लेकर आगे बढ़ती है। विकास की परिभाषाओं और मानकों में यह देखा गया है कि न तो विकास एकांगी हो सकता है और नहीं उसे एक तत्व के आधार पर आंका जा सकता है जब एकांगिता इसमें पैदा हो जाता है तब असंगति या विसंगति का जन्म होता है। विकास को देखने के लिये किसी समाज व्यवस्था के उन निर्माणकारी घटकों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जो कि किसी सामाजिक ढाँचे की परिपूर्णता को परिभाषित करते हैं। इस अध्याय में हम सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में विकास की विसंगतियों का विवेचन करेंगे।

(i) सामाजिक क्षेत्र :

समाज का पुनर्निर्माण नवजागरण के बाद से आरम्भ हुआ। नवजागरण ने पुरानी सामाजिक संस्थाओं को नई आवश्यकताओं के अनुसार जाँचने-परखने की कोशिश की। मध्ययुग में धर्म का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उसमें अन्य सभी प्रकार की संस्थाएँ समा जाती थीं। राज्य अर्थव्यवस्था से लेकर सांस्कृतिक व्यवस्था तक धर्म के दायरे में ही कार्य करते थे। इसलिए सबसे पहली जरूरत यह महसूस की गई कि धर्म की संरचना पर ही विचार किया जाय। आधुनिक भारत में दुनिया के अन्य धार्मिक संस्थानिक ढाँचे के साथ सम्पर्क के कारण यह विश्वास पैदा हुआ कि धर्म शाश्वत सत्ता नहीं है। इस प्रश्न के साथ ही समाज की संस्था को धर्म से स्वायत्तता मिलने लगी। भक्तिकाल का समाज सुधार का कार्यक्रम पूरी तरह से धार्मिक ढाँचे में ही क्रियाशील रहता था लेकिन आधुनिक युग में यह स्वतन्त्र चिन्तन का विषय बना।

आधुनिक युग के समाज सुधार के कार्यक्रमों ने समाज को नया रूप देने की कोशिश की, यह बड़ी जिम्मेदारी थी। जाति प्रथा और स्त्री शिक्षा, ये समाज सुधार

कार्यक्रम के दो महत्वपूर्ण हिस्से थे। समाज सुधार के कार्यक्रमों का एक रूप पुनरुत्थानवाद से प्रेरित था जो समाज के उसी ढाँचे को वापस लाना चाहता था जो किसी समय में भारतीय समाज का आदर्श बना था। दूसरा रूप वह था जो उस ढाँचे को मनुष्य को मूल्यवान मानकर बदलना चाहता था। कम से कम एक बात दोनों में सामान्य थी कि ये मौजूदा सामाजिक संरचना से संतुष्ट नहीं थे। आजादी के आन्दोलन के साथ-साथ चलने वाले इन समाज सुधार के प्रयासों ने आजादी आते-आते एक ठोस रूप ग्रहण कर लिया और समाज के सुधार के लिए कुछ कार्यक्रम तैयार हो पाये। ये कार्यक्रम निश्चित रूप से मनुष्य की चिन्ता के महत्वपूर्ण ध्येय को अपने भीतर समेटते थे। लेकिन आजादी के बाद की स्थितियों में इनका क्रियान्वयन बहुत सुखद नहीं रहा।

धर्म ने धर्म-निरपेक्षता के उस रूप को स्वीकार किया जिसमें 'सर्वधर्म समभाव' ही मूल्यवान था। जीवन के प्रति लौकिक रवैया मूल्य नहीं रखता था। धर्म के ढाँचे को स्वीकारने से स्वतः रूप में धार्मिक पवित्रता को स्वीकृति मिल जाती है। जातिप्रथा धार्मिक दायरे के भीतर निर्मित संरचना है और स्त्री की दोयमता भी। आधुनिक भारत में धर्म की स्वीकृति, जातिप्रथा और स्त्री दोयमता को समाप्त करने की विचारधारा के भीतर गहरे अन्तर्विरोधों के साथ विसंगतियाँ पैदा हुईं। जाति आधारित संघर्ष और स्त्री के विरुद्ध हिंसा रूप प्रसार इसके बड़े उदाहरण थे। महिला हिंसा के बारे में 'राम आहूजा' कहते हैं — "स्वाधीनता के पश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे-धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है।"⁵⁵

आजाद भारत में लगातार जाति आधारित संघर्ष हुए। स्थानीय स्तर पर यह देखा गया कि खान-पान के सम्बन्धों में जाति आधारित नियमों के पालन को महत्वपूर्ण माना गया जबकि नगरीकरण की प्रवृत्ति ने इस तरह के जाति आधारित विभाजन को ध्वस्त किया। आरक्षण और संरक्षणवादी नीतियों ने दमितों के भीतर तमाम तरह के आत्मविश्वासों का सृजन किया लेकिन परम्परागत रूप से सुविधा भोग रही जातियों के हाथ से अवसर निकलते दिखने और बराबर के हक के प्रकटीकरण के कारण इस तरह के सामाजिक संघर्ष बढ़े। स्वतन्त्रता की अवधारणा ने और अधिक दुनियावी सम्पर्क के कारण मूल्यों के बीच संकट की स्थितियाँ पैदा हुईं।

परम्परागत मूल्य व्यवस्था को वहन करने वाली पुरानी पीढ़ी सामाजिक व्यवस्था के क्रियान्वयन में अपने हस्तक्षेप को कायम रखना चाहती है और आधुनिक प्रकार के मूल्यबोध से संचालित नई पीढ़ी परम्परागत मूल्य व्यवस्था में असहजता महसूस करने के कारण उससे बाहर आना चाहती है। इससे दोनों पीढ़ियों में टकराव की स्थितियों ने जन्म लिया है। आज़ादी के आरम्भिक समय में यह समस्या निम्न रूप में जिसका उदाहरण 'भीष्म साहनी' की कहानी 'चीफ की दावत' से दिया जा सकता है। जिसमें पुरानी पीढ़ी स्टोर रूम में रखने की वस्तु बन गई है। उसके बाद की परिस्थितियों का उदाहरण 'ज्ञानरंजन' की कहानी 'घंटा' से दिया जा सकता है। ऐसी तमाम कहानियाँ हिंदी साहित्य में बिखरी पड़ी हैं जो इस समस्या को उठाती आयी हैं। नये तरह के 'रिटायरमेन्ट' के बाद से पैदा होने वाली स्थितियाँ भी इसी तरह की हैं। समाज में यह समस्या और अधिक मुखर होती दिखाई देती है जहाँ कई बार दबाव में आने पर नई पीढ़ी अपने भविष्य के सपने को दफन कर देती है तो कई बार उग्र होने पर पुरानी पीढ़ी की हत्या तक कर देती है। यह स्थिति सामाजिक समंजन के लिए अच्छी स्थिति नहीं कही जा सकती है। दो

पीढ़ियों के आपसी द्वन्द्व में पिसती हुई अजनबियत की शिकार तीसरी पीढ़ी पैदा हो रही है जिसमें दोनों ही पीढ़ियों के प्रति अजीब सा भाव दिखाई देता है।

इसी से जुड़ी हुई एक और विसंगतिपूर्ण स्थिति बाल शोषण और बाल अपराध के रूप में देखी जा सकती है। बच्चों की समस्या समाज के विकास की विसंगतियों का परिणाम है। राज्य और समाज दोनों ही अच्छे भविष्य का सपना देखते हैं विकास के लिए नये-नये आयामों को अपनाते हैं। दूसरी तरफ अधिक मुनाफा और कम खर्चा की नीति के तहत बाल मजदूरी को प्रश्रय देते हैं। सामाजिक विकास की यह गति यौन हिंसा के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। वर्गीय संरचना के भीतर विभिन्न स्तरों पर इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इसका सबसे अधिक शिकार बच्चे ही होते हैं। परम्परागत मानसिकता के कारण बच्चों में भी लड़कियों पर इसकी मार अधिक पड़ती है। राज्य इस सम्बन्ध में भले ही तमाम उपचारात्मक उपाय अपनाता है पर ठोस Preventive Acts के अभाव में यह बहुत कारगर साबित नहीं होते। अपराधी और शोषित बच्चों से बनने वाले राष्ट्र की कल्पना की जा सकती है, यह कम से कम उस सपने का हिस्सा नहीं है जिसे भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, भारतीय समाज और संविधान निर्मित राज्य ने देखा है। 2007 की सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक हर दूसरा बच्चा किसी न किसी प्रताड़ना का शिकार होता है। जिसमें से एक बड़ा हिस्सा बाल अपराध की ओर मुड़ जाता है। एक तरफ यह उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा न रहकर राष्ट्र के सकल उत्पाद में कोई भूमिका नहीं निभाता, दूसरी तरफ तरह-तरह के अपराध करके सामाजिक विकास की गति को बाधित करता है। इस सम्बन्ध में जे0सी0 दत्त ने कहा है कि —“भारत में बाल-अपराध बड़ी तीव्र गति के साथ एक गम्भीर संकट होता जा रहा है और देश के विभिन्न भागों के, जो आज से कुछ वर्ष पूर्व अनिवार्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के ही एक अंग थे, प्रगतिशील औद्योगीकरण के साथ-साथ यह समस्या अनेक पाश्चात्य देशों में उपलब्ध स्थान को शीघ्र ही ग्रहण कर लेगी।”⁵⁶

सामाजिक विकास के पैमाने में यह आवश्यक रूप से शामिल है कि सामुदायिक स्वास्थ्य सूचकांक अच्छा हो, लोक स्वस्थ हो, प्रसन्न हो। राज्य इसके लिए समय-समय पर उपाय करता भी दिखता है। नशा सामाजिक स्वास्थ्य की गिरावट का बड़ा सूचकांक है। समाज का बड़ा तबका नशे का शिकार है। सरकार नशा मुक्ति के कार्यक्रम चलाती है लेकिन वही सरकार नशा विक्रय केन्द्रों को बहुत अधिक प्रोत्साहन देती है। पचास साल पहले सरकारी शराब और भाँग की दुकानें बहुत सीमित थीं, आज हर एक मोड़ पर इसकी दुकानें हैं। बीड़ी, सिगरेट के विक्रय केन्द्र अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। इन दोनों से ही राज्य को बहुत अधिक राजस्व की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में 'महात्मा गाँधी' के विचार इस प्रकार हैं — "मेरा विश्वास कीजिए, मद्यनिषेध के परिणामस्वरूप सरकारी आय में आने वाली कमी का कोई महत्व नहीं है, देश इस बुराई से अपना धैर्य खो चुका है।"⁵⁷

सामुदायिक स्वास्थ्य और राजकीय राजस्व के द्वन्द्व ने इस विसंगति को जन्म दिया है। यह समाज के लिए, सामाजिक मूल्य व्यवस्था के लिए, सामाजिक कानून व्यवस्था के लिए गम्भीर चुनौती बन गया है। नशे के कारण गम्भीर बीमारियाँ तथा दुर्घटनाएँ लगातार होती हैं जो विकास की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। उत्पादन क्षमता का ह्रास होता है, पारिवारिक संरचना छिन्न-भिन्न हो जाती है। सामाजिक शिक्षा स्तर में गिरावट आती है। इसका हर पीढ़ी के लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। एक नशे की लत का शिकार व्यक्ति पूरी पारिवारिक संरचना को ध्वस्त कर देता है। 'प्रो० योगेन्द्र सिंह' के अनुसार — "सत्ता में ह्रास, स्थापित संस्थाओं के विवैधकरण एवं विकास व परिवर्तन की मौजूदा प्रक्रिया से असंतोष ने राष्ट्र में हिंसा एवं अव्यवस्था में योगदान दिया है। ग्रामीण-शहरी सम्बन्ध पिछले दशकों में और मजबूत हुये हैं, लेकिन इसके साथ-साथ दोनों जगहों पर कई

सामाजिक समस्याएँ भी समान रूप से बढ़ी हैं, जैसे कि गरीबी, बेरोजगारी, जुर्म, हिंसा, मद्यपान, मादक पदार्थों का व्यसन, वेश्यावृत्ति, अल्पवयस्क अपराध आदि।⁵⁸ ग्रामीण व शहरी दोनों ही स्तरों पर नशे की लत के शिकार लोगों का प्रतिशत इतना अधिक है कि आधे से अधिक परिवार इसका दंश झेल रहे हैं।

(ii) सांस्कृतिक क्षेत्र :

संस्कृति पर अलग से चिन्तन का सिलसिला 'ग्राम्शी, विलियम्स' आदि से शुरू हुआ और माना जाने लगा कि आर्थिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं। इनकी गणना भी आधार संरचना की तरह महत्वपूर्ण संरचना के रूप में की जानी चाहिए। दोनों ने सांस्कृतिक उद्योग की अवधारणा दी जिसमें यह माना गया कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों का उत्पादन होता है। भारत के विकास में भी यह स्थिति देखी गई कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों का उत्पादन हुआ। जिनकी अपनी अर्थव्यवस्था बनी, अपनी सत्ता बनी।

परम्परागत भारतीय संस्कृति की मूल भूमिका सामन्ती मूल्यों को लागू करने के निमित्त थी। शिक्षा, संस्कार, उत्सव, रीति-रिवाज, प्रथायें, मूल्य व्यवस्था सब सामन्ती ढाँचे के भीतर क्रियाशील थे। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण काम हुआ सांस्कृतिक तत्वों का आधुनिकीकरण। इसकी प्रक्रिया आधुनिक भारत के निर्माण के प्रारम्भिक चरण में स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ चलती रही। धर्म के भीतर व्याप्त तमाम तरह की कुरीतियों पर उन्नीसवीं सदी में प्रहार किया गया, जाति आधारित शोषण की तमाम प्रथाओं के विरुद्ध लड़ाई लड़ी गई। दलितों को मन्दिरों में प्रवेश, सार्वजनिक स्थलों पर निर्बाध प्रवेश, शिक्षण संस्थानों में अध्ययन की छूट, ये सब मुद्दे उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक सुधार के भाव से संचालित मुद्दे थे। बीसवीं सदी में इससे आगे के उपाय किये गये। महात्मा गाँधी ने 'हरिजन की

अवधारणा' पर काम किया, अम्बेडकर ने 'दलित उत्थान' का नारा दिया। यह समाज व्यवस्था के भीतर की सांस्कृतिक संरचना के सुधार की ललक भर थी।

आजादी के बाद की स्थितियों में बड़ा फर्क आया। सरकार ने शिक्षा को सबसे बड़ा आधार मानकर शिक्षा व्यवस्था पर जोर दिया। लेकिन शिक्षा व्यवस्था को लागू करने में तमाम समस्याएँ खड़ी हुईं। पाठ्यक्रमों के निर्माता परम्परागत मूल्य व्यवस्था से पूरी तरह मुक्त नहीं थे। कार्य संस्कृति में इस बात से पूरी तरह आत्मसात नहीं किया गया कि शिक्षित करना है। ब्रिटिश काल की शिक्षा पद्धति को लगभग स्वीकार कर लिया गया। शिक्षा का अर्थ साक्षरता और डिग्री लेने से अधिक नहीं रह गया। इससे शिक्षा ने सांस्कृतिक क्षेत्र में कोई बड़ी क्रान्ति नहीं पैदा की। ऊँची नौकरियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा को हमेशा मूल्यवान माना गया बल्कि कई बार अंग्रेजी को ही स्वीकार किया गया। अंग्रेजी भाषा भर नहीं थी, एक पूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया उसमें निहित थी। जिससे सोच-विचार, आदतें, खान-पान, रीति-रिवाज आदि में पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति लगातार बलवती होती गई। निम्न शिक्षित समाजों में भी इस पश्चिमीकृत संस्कृति के अनुकरण के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति पैदा हुई, जो न तो पूरी तरह पश्चिमी थी और न ही परम्परागत भारतीय। दोनों की टकराव ने सांस्कृतिक संकट की स्थितियाँ पैदा कीं।

स्वाधीनता आन्दोलन में देशभक्ति, सत्याग्रह, ईमानदारी, विरोध और विद्रोह, मानवीय मूल्य महत्ता, परोपकार, निःस्वार्थता और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी धारणाएँ संस्कृति के महत्वपूर्ण मूल्य बन गये थे, जो कि आजादी के बाद पूरी तरह से नकार दिये गये। देशभक्ति को आजादी ने अलविदा कह दिया, विरोध और विद्रोह को राज्य निगल गया, क्षेत्रवादी प्रवृत्तियाँ 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' पर भारी पड़ गई, बेईमानी और भ्रष्टाचार ने सत्याग्रह और ईमानदारी का अन्त कर दिया। सांस्कृतिक उत्सव

पूरी तरह बाज़ार के हाथों के पुर्जे बन गये। लोक संस्कृति को अधिकचरी शिक्षा व्यवस्था ने व्यर्थ ही साबित कर दिया। कहानियाँ, किस्से, गीत आदि लिखित साहित्य की चकाचौंध में कोने में सिमटकर रह गये।

भारतीय संस्कृति की विशेषता के रूप में अनेकता को बार-बार रेखांकित किया जाता था और 'अनेकता में एकता के सिद्धान्त' में सौन्दर्य की अनुपम छटा की सृष्टि की जाती थी। विश्वव्यवस्था के दबाव में जिस तरह ये विभिन्नताएँ दुनिया भर में सिमटने लगीं। उसी तरह भारतीय समाज से भी ये भिन्नताएँ समाप्त होने लगीं। अब ये अधिक से अधिक बाज़ार के लिये किस्म-किस्म के उत्पाद पैदा करने और विभिन्न स्वादों को जन्म देने वाली से अधिक नहीं रह गई हैं। सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के दबाव में व्यक्ति नियन्त्रित रूप में उन्हीं कामों को करने की आज़ादी पाता था, जो कि बहुत बड़े खतरे नहीं पैदा करते थे पर अब उसे कुछ भी करने की आज़ादी है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में बदलाव का एक बड़ा कारण विकास का वह मॉडल है जो विभिन्न कारणों से स्थानीय जनसंख्या को दूसरी तरफ ढकेलता है। विकास की बड़ी परियोजनाएँ लोगों को अपने मूल आवासों से स्थानापन्न कर देती हैं, रोजगार के अवसर उसे शहरों की ओर खींच ले जाते हैं। इससे भिन्न सांस्कृतिक समुदायों के आपस में घुलने-मिलने की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दर्शन ऐसे दो समुदायों में संघर्ष को जन्म दे सकता है, पर ऐसे कम ही हुआ। जब कभी राजनीतिक स्वार्थों ने ऐसे सूत्रों को सहारा दिया तो सांस्कृतिक आधार पर दंगा-फसाद और हिंसा ने भी जन्म लिया। भारतीय समाज की 'गंगा-जमुनी संस्कृति' पर सम्प्रदायवाद की तलवार ने बार-बार प्रहार किये, जो कि ऐसे ही राजनीतिक स्वार्थों के परिणाम कहे जा सकते हैं।

(iii) आर्थिक क्षेत्र :

भारत के विकास के मॉडल में यह बात शामिल थी कि सभी तबकों का समान रूप से विकास किया जायेगा। सकल राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि का लक्ष्य रखा गया और पूरा भी हुआ। लेकिन इसका अनुपात समाज के सभी तबकों में एक जैसा नहीं रहा। सामाजिक वर्ग के बीच खाइयाँ निरन्तर बढ़ती गईं। 'टी0बी0 बाटोमोर' ने इन वर्गों की बात की है— "सामाजिक वर्ग तथ्यतः (कानूनी अथवा धार्मिक रूप से परिभाषित एवं मान्य नहीं) समूह होते हैं। ये अपेक्षाकृत उन्मुक्त होते हैं, बन्द नहीं। उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक हैं। वे औद्योगिक समाजों के लक्षणिक समूह हैं जिनका विकास सत्रहवीं शताब्दी के बाद हुआ है। अनेक कठिनाइयाँ तब उत्पन्न होती हैं जबकि सामाजिक वर्गों की संख्या को निश्चित अथवा संक्षिप्त में उनकी सदस्यता को परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है। तथापि अधिकांश समाजशास्त्री, उच्च वर्ग (जिसमें एक समाज के आर्थिक साधनों के अधिकांश भाग के स्वामी सम्मिलित होते हैं), श्रमिक वर्ग (मुख्यतया औद्योगिक श्रमजीवी) और एक मध्यम वर्ग अथवा मध्यम वर्गों का समूह (एक अधिक आकार रहित समूह जो कि अक्सर अवशिष्ट श्रेणी के रूप में देखा जाता है। लेकिन जिसमें बहुत से सफेदपोश कार्यकर्ता एवं उदार व्यवसायों के बहुत से सदस्य शामिल हैं) के अस्तित्व को स्वीकार करने में शायद सहमत होंगे। कुछ समाजों में कृषक वर्ग को चतुर्थ वर्ग के रूप में जाना जा सकता है।"⁵⁹

भारतीय समाज में वर्ग का विभाजन स्पष्ट रूप इसलिए नहीं दे पाया, क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण के परम्परागत रूप जाति व्यवस्था का उन्मूलन नहीं हो पाया। जाति और वर्ग दोनों एक दूसरे में तरह-तरह से हस्तक्षेप करते रहे। आर्थिक आधार पर बनने वाले वर्ग की संरचनाओं में सभी जातियों के लोग शामिल हो जाते हैं जो कि अपनी सामाजिक सोच के कारण तमाम तरह की आर्थिक गतिविधियों में या तो

हिस्सा लेते हैं या नहीं लेते हैं। यही स्थिति ग्रामीण और शहरी वर्ग के साथ भी लागू होती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में आम सोच में यह मूल्यवान माना गया कि व्यक्ति आर्थिक गतिविधियों में क्या काम करता है। आमतौर पर यह मूल्यवान माना गया कि 'व्यक्ति रोजगार में तो हो, पर उसे काम कुछ न करना पड़े।' यह सोच आर्थिक विकास के लिए अच्छी नहीं थी इससे राज्य के पास काम करने वालों की फौज़ तो खड़ी हो गयी, पर काम के नाम पर अधिक नहीं हुआ। सरकारी क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों का वेतन राज्यनिधि पर अच्छा-खासा भार तो डालता था पर उसके प्रतिदान के रूप में विलम्ब और अनिस्तारण काम की मूल विशेषताएँ बन गये। यह अर्थव्यवस्था के लिये गम्भीर समस्या रही। इससे राज्य के सामुदायिक क्षेत्रों को लगातार घाटा झेलना पड़ा और सामुदायिक क्षेत्रों का निजी क्षेत्र में विलयन होता गया। निजी क्षेत्र इस संकल्पना पर कार्य करते हैं कि काम करने वालों की कमाई का मोटा हिस्सा मुनाफे के रूप में अपने पास रख लेते हैं और काम करने वालों को आजीविका के लायक हिस्सा दे दिया जाता है। इस आर्थिक विनिमय में पूँजी का संकेन्द्रण होता गया। अमीर आदमी अमीर से अमीर होता गया और गरीब और गरीब।

अर्थव्यवस्था का दूसरा हिस्सा कृषि रहा। कृषि का स्वरूप वर्षा आधारित होने से आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर बुरा असर पड़ा। पुरानी संरचना में खाद-बीज पर लागत मूल्य कम रहता था। लेकिन उन्नत कृषि की अवधारणा में यह लागत मूल्य बहुत बढ़ गया। एक बार की वर्षा के गड़बड़ होने पर यह लागत मूल्य खेती से वापस मिलना मुश्किल हो गया। पुनः अगली फसल की लागत के लिए किसान को ऋण लेना पड़ा और एक बार ऋण लेने के फेर में पड़ने के बाद उसका मजदूर बनकर ही पीछा छूटा। 'पूस की रात' का हल्कू या 'गोदान' का होरी इस तरह के

दंश के प्रतिनिधि बनकर साहित्य में आये। तकनीकी प्रयोग से किसान को श्रम तो कम करना पड़ा पर कमाई का एक बड़ा हिस्सा इस तकनीक के प्रयोग पर खर्च होने लगा, जिससे किसान का आर्थिक विकास यथास्थिति के रूप में या उसमें गिरावट ही दर्ज की गई।

लघु उद्योग उच्च गुणवत्ता में बड़े उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा के शिकार हुए, जिससे धीरे-धीरे वे बन्द होने की ओर ही उन्मुख हुए। मंहगाई की बढ़ती दर और कमाई के सीमित संसाधन ने निम्न आर्थिक स्तर के लोगों को भुखमरी और गरीबी की ओर ही धकेला। राज्य की भूमिका 'कर संग्रहण' और उसे विकास के नाम पर खर्चने की रही। जिसमें कार्यपालिका, विधायिका, और न्यायपालिका को वहन करने का बड़ा भार और भ्रष्टाचार की मार ने राज्य को लगातार घाटे की ओर धकेला, जिससे राज्य की आर्थिक स्थिति में भी लगातार गिरावट आयी।

कुल मिलाकर निजी क्षेत्र के लोगों की आर्थिक स्थिति निरन्तर मजबूत होती गई। वर्तमान में इनकी आर्थिक स्थिति इतनी मजबूत हो गई है कि शिक्षा, विकास, स्वास्थ्य, संस्कृति हर मामले के नीति निर्धारण में ये निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। जनता और जनता द्वारा जनता के लिए शासन असहाय स्थिति में इनकी तरफ देखते रहते हैं।

(iv) राजनीतिक क्षेत्र :

भारत में राजनीतिकरण की प्रक्रिया स्वाधीनता आन्दोलन के साथ आरम्भ होती है। स्वाधीनता आन्दोलन का 'वैचारिक ढाँचा' इस बात से बनता था कि आज़ादी एक बड़ा मूल्य है। यूरोप के स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे के सिद्धान्तों ने भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग को उदार बनाया उसके चिन्तन की माँग के साथ आज़ादी को स्वीकार किया। इस स्वीकार का सबसे पहला असर था कि हमारे प्रश्नों का ढाँचा बदल गया और इतिहास, मनुष्य, समाज, संस्कृति आदि पर नये सिरे से बात

करने लगा। राष्ट्र अब राज्य नहीं रह गया, ईश्वर नियन्ता नहीं रह गया। राजनीतिकरण की यह प्रक्रिया वास्तविक रूप में आजादी के साथ लागू हुई और भारतीय संविधान को एक परिपूर्ण राजनीतिक दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया गया।

भारतीय संविधान भारतीय नागरिक की राजनीति का मान्य दस्तावेज माना गया, हालांकि यह दस्तावेज उन सभी राजनीतिक मूल्यों को अपने भीतर नहीं समेटता था जो कि आजादी की लड़ाई के दौरान भारतीय जनता ने तैयार किये थे। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कहा गया— भारत एक लोकतन्त्रात्मक, प्रभुतासम्पन्न देश है। भारत गणतन्त्र भी है। यह किसी भी प्रकार के वंशानुगत शासन को नहीं मानता। संविधान सभी नागरिकों से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का वायदा करता है, वैचारिक, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतन्त्रता देता है; स्तर और अवसर की समानता तथा व्यक्ति विशेष की शान को ध्यान में रखते हुए भाईचारे को बढ़ावा देता है। 1976 में एक संशोधन के तहत धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद की स्थापना का उद्देश्य प्राप्त करने और राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को कायम रखने की घोषणा की गई।⁶⁰

इसमें राष्ट्र के समाजवादी होने को स्वीकार किया गया पर यह समाजवादी मॉडल उस समाजवादी मॉडल से भिन्न था जिसका सपना भारतीय साम्यवादी विचारधारा देखती थी। पर फिर भी यह संविधान एक पूर्ण दस्तावेज ही माना जाता है। राजनीतिकरण की प्रक्रिया के रूप में नई राजनीतिक संस्थाओं का विकास किया गया जो परम्परागत संस्थाओं पर आधारित होकर भी उनसे भिन्न ही थीं। प्रक्रिया के तौर पर मतदान और मताधिकार को लागू किया गया था जिसका औपचारिक इतिहास भले ही ब्रिटिश काल से शुरू होता है पर इसका प्रचलन होता चला आ रहा है।

भारतीय राजनीति के लिए सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि समान मताधिकार का प्रयोग मान्य होने के कारण 'जातिप्रथा' और तमाम अन्य सामाजिक विभेदकारी मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया गया था, लेकिन जब यह व्यवहार में आयीं तो इसका चरित्र निहायत विसंगतिपूर्ण था। आज़ादी के ठीक बाद के उपन्यासों में इस विसंगति को साफ़तौर पर देखा जा सकता है। 'फणीश्वर नाथ रेणु' का उपन्यास 'मैला आँचल' इस विसंगति को दिखाने वाला एक महत्वपूर्ण उपन्यास था। 'रेणु' ने दिखाया कि राजनीति में जाति की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण हो गयी है कि 'हर व्यक्ति अपने सिर पर एक जाति की टोपी लगाकर घूमता है।' बाद में 'रजनी कोठारी' ने 'भारत में राजनीति' किताब में इस पूरी प्रक्रिया का ब्यौरा प्रस्तुत किया और कहा कि यहाँ 'जाति का राजनीतिकरण' हो गया है। यह राजनीतिक क्षेत्र में सबसे बड़ी विसंगति थी कि समान अधिकार के सिद्धान्तों पर खड़ी राजनीतिक संस्था लोकतंत्र को सबसे गैरबराबरी के सिद्धान्तों पर निर्मित जातिप्रथा ने निगल लिया।

राजनीतिक क्षेत्र में दूसरी विसंगति स्थानीय अभिजनों के विकास के रूप में देखी गई। 'गाँधीजी' का मानना था देश में सुविधाओं का रुझान सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति को देखकर किया जाना चाहिए। राजनीतिकरण की प्रक्रिया में जो नियम व्यवस्था बनती थी उसका ध्यान सबसे निचले पायदान पर बैठे व्यक्ति के कल्याण को केन्द्र में रखकर किया जाता था इसे ही राज्य का कल्याणकारी होना कहा गया। लेकिन ये कानून लागू होने की प्रक्रिया में स्थानीय अभिजनों के हित सिमटकर रह गये। जिस तरह मताधिकार में अँगूठा निम्न पायदान पर बैठे लोगों का चलता था लेकिन इच्छा उन अभिजनों की काम करती थी जोकि इन निम्न पायदान पर बैठे लोगों पर नियन्त्रण रखते थे। ग्राम पंचायत और जिला पंचायतों के स्तर पर तो पूरी तरह से लागू रहा कि चुने जाने वाला प्रतिनिधि भी अपनी स्वायत्तता के साथ काम करने के लिये स्वतन्त्र नहीं हो सका।

राजनीतिक क्षेत्र का प्रसार राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण, उनके क्रियान्वयन, उनके प्रति जागरूकता विकसित करने और शिक्षित करने के दायरे तक को अपने भीतर समेटता है। राजनीतिक संस्था के निर्माण की जिम्मेदारी राजनीति की किताब, संविधान की छाया में कानूनों के निर्माण और क्रियान्वयन की होती है। विधायिका और कार्यपालिका इसकी जिम्मेदार संस्थाएँ हैं। इनमें व्याप्त सांस्कृतिक से लेकर आर्थिक भ्रष्टाचार ने इसके उद्देश्य को समाप्त कर दिया ऐसा नहीं है, लोकतन्त्र लागू नहीं किया गया। लोकतन्त्र का विकास ही नहीं हुआ, यह सब हुआ पर इसके दायरे में वह सब भी शामिल हो गया, जिसे इसमें नहीं होना चाहिए था। भाई भतीजावाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, भ्रष्टाचार आदि बुराइयों ने लोकतन्त्र को एक ऐसी संस्था में बदल दिया जिसका नागरिक एक परेशान व्यक्ति से अधिक नहीं हुआ। हिंदी साहित्य में यह पीड़ा लगातार चित्रित की जाती रही है। उन्नीस सौ साठ के बाद की पीढ़ी ने जिस तरह से मोहभंग को साहित्य का विषय बनाया वह लोकतन्त्र की विसंगतियों का ही परिणाम था। 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना' ने तो सीधा कहा कि 'ऐसे लोकतन्त्र से मेरा नाम काट दो', 'धूमिल' ने कहा कि 'यह तीन थके हरे रंगों का नाम है जिसे एक पहिया ढोता है।' लोकतन्त्र बिना शिक्षा के निर्मूल है। शिक्षा की जिम्मेदारी राज्य ने उठाई लेकिन शिक्षा का स्वरूप अधिक से अधिक नौकरियों के लिये डिग्री हासिल करने से अधिक नहीं रह गया। शिक्षा का ढाँचा अच्छे नागरिक पैदा करने की क्षमता से युक्त नहीं था जिससे न तो अच्छे नागरिक देश में पैदा हुए और न ही लोकतन्त्र को लागू करने की और विकसित करने की स्वस्थ परम्पराओं का विकास हो सका।

लोकतन्त्र में एक बड़ी जिम्मेदारी समाचार पत्रों और मीडिया की होती है। जो जनमानस को इस बात के लिये तैयार करते हैं कि वह एक मुद्दे पर अपनी राय कायम करें। समाचार तन्त्र विभिन्न मुद्दों पर बहस चलाते हैं जिससे लोकतन्त्र की नींव मजबूत होती है। भारत में संचार तंत्र अधिकतर बड़े पूँजीपतियों और सत्तावर्ग

के स्वामित्व में संचालित होने के कारण उन्हीं के हित पोषण का जरिया बनता रहा। किसी भी समाचार पत्र की आवश्यक संरचना को देखने से पता चल जाएगा कि अन्धविश्वासों में आस्था पैदा करने के लिये एक निश्चित कॉलम 'राशिफल' का होता है और इस भाग्यवादी रवैये के साथ दिन के संचालन का जिम्मा समाचार पत्रों ने उठाया। हत्या, लूटपाट, व्यक्तिगत अपराधों की सूचियाँ और खबरें तो समाचार पत्रों का विषय बनती रहीं, पर उनके कारणों पर स्थानीय और राष्ट्रीय बहसें चलाने का जिम्मा यह समाचार तक नहीं उठा सके। अक्सर यह देखा गया कि 'पेड़ खबरों' के तन्त्र ने इनकी ईमानदारी पर लगातार सवाल खड़े किये। सम्पूर्ण रूप में देखें तो यह भूमिका लोकतन्त्र को विकसित करने के बजाय विसंगतियाँ पैदा करने वाली ही रही।

प्रत्यक्षतः यदि राजनीतिक क्षेत्र में विसंगतियों को गिनने की बात हो तो नागरिक बोध से युक्त नागरिकों के बजाय अजनबियत की शिकार भीड़ का विकास इस साठ साल के लोकतन्त्र की उपलब्धि है। प्रभावी राजनीतिक संस्थाओं के विकास के स्थान पर लाभ के व्यावसायिक मॉडल के रूप में इनका विकास इनकी दूसरी विसंगति है। साफ—सुथरी मत रखने की प्रक्रिया के स्थान पर खरीद—फरोख्त और तमाम तरह के प्रभाव से मत को हड़प लेने की प्रक्रिया का विकास इसकी बड़ी विसंगति है।

निष्कर्षतः सभी क्षेत्रों में विकास के प्रारूप को इस तरह देखा जा सकता है—सामाजिक क्षेत्र में तमाम संस्थाएँ अपनी प्रासंगिकता तलाशने के लिए कई मामलों में रूढ़ रूप लेने लगी हैं। जाति व्यवस्था समाप्त होने के बजाय जटिल सी संरचना बन गई है। 'खाप पंचायतें' जैसी संरचनाएँ इस तरह के विकास की देन मानी जा सकती हैं। हर एक जाति की अपनी एक संरचना बन गई है जो जाति के उत्थान के नाम पर लोगों को एक झण्डे तले संगठित करती है। सामाजिक बुराईयाँ अपनी

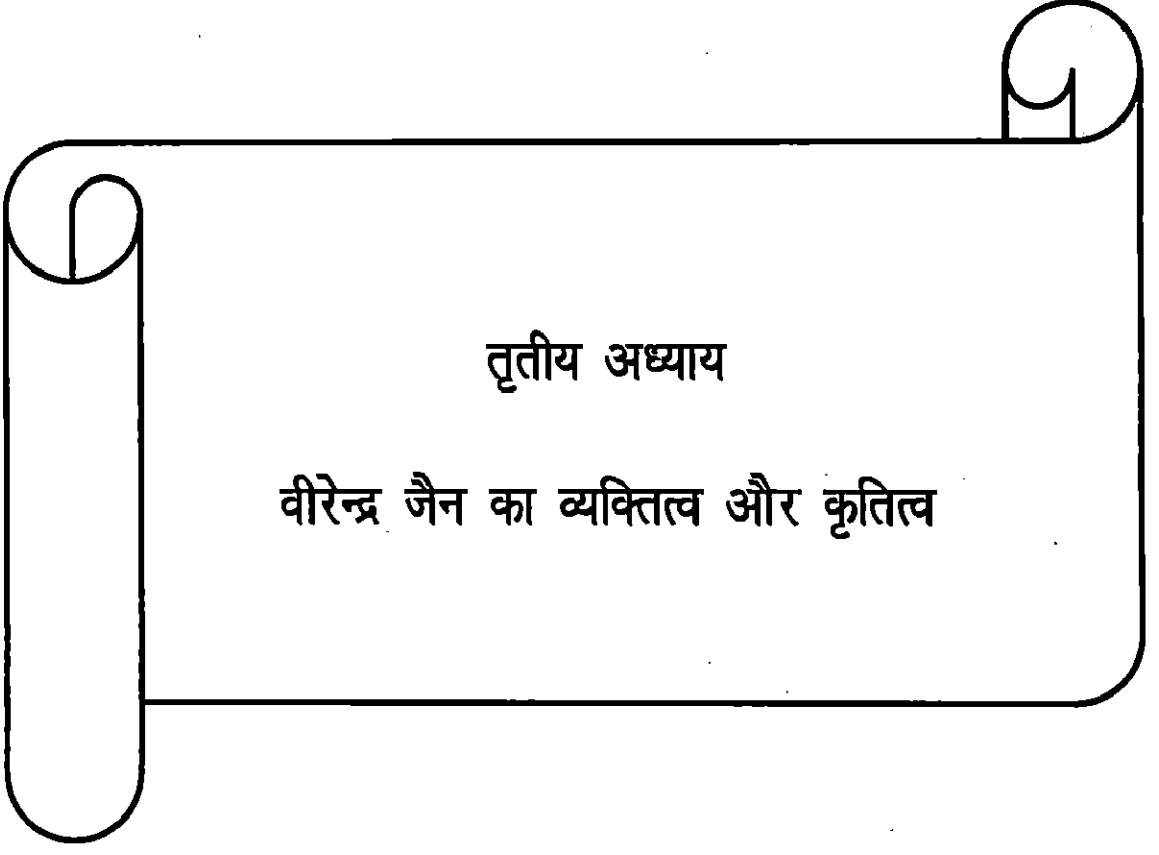
जड़ें गहरी जमाये हुए हैं जो समाप्त होने का नाम नहीं ले रहीं। सांस्कृतिक क्षेत्र में बाज़ार ने भारतीय संस्कृति के हर पायदान को बिकाऊ बाज़ार में बदल दिया है। सांस्कृतिक मान्यताएँ अब महत्व की नहीं रह गई, उनके साथ जुड़ी बाज़ारू चमक का महत्व अधिक हो गया है। आर्थिक क्षेत्र में विकास की असमान संरचनाओं के अम्बार लग गये हैं। लोगों के पास पीने के पानी की सुविधा नहीं है लेकिन दूरसंचार के संसाधन उनके पास आसानी से पहुँच रहे हैं। बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ कृषि योग्य भूमि को अपनी चपेट में लेकर कृषकों के आजीविका संसाधनों को हड़प रही हैं। ये 'बाँध' योजनाएँ विकास के नाम पर बड़े विस्थापनों को जन्म दे रही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में नागरिकों की शिक्षा पूरी तरह से लागू न होने के कारण नागरिक अधिकार बेमानी हो गये हैं।

सन्दर्भ

1. आचार्य दुर्गादास बसु : भारत का संविधान, एक परिचय, पृ० 21
2. डॉ० बसन्ती लाल बाबेल : भारत का संविधान, पृ० 214
3. आचार्य दुर्गादास बसु : भारत का संविधान, एक परिचय, पृ० 153
4. डॉ० जय नारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, पृ० 387
5. डॉ० विजय नारायण मणि त्रिपाठी : विधि शास्त्र एवं विधिक सिद्धान्त, पृ० 323
6. वही, पृ० 324
7. डॉ० बसन्ती लाल बाबेल : भारत का संविधान, पृ० 214
8. डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : भाषाई अस्मिता और हिन्दी, पृ० 12
9. वही, पृ० 20
10. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत में समाज (ESO-02) पृ० 17-18
11. पूरन चन्द्र जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ० 104
12. Encyclopedias of Religion and Ethics, Vol. II, p 347
13. पूरन चन्द्र जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ० 140
14. वही, पृ०-140-141
15. Dr. Radka Krishnan : Occasional Speeches and Writings, Vol. I, p 287
16. पी०सी० जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ०-140-141
17. डॉ० बसन्ती लाल बाबेल : भारत का संविधान, पृ० 176
18. क्रिस्टोफर कॉडवेल : विभ्रम और यथार्थ, पृ० 34
19. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : समाज और धर्म, (ESO-05), पृ० 20
20. वही, पृ० 32
21. वही, पृ० 21
22. पी०सी० जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ० 149

23. N.L. Gupta (Edited) : Nehru on Communalism, p 206
24. बिपन चंद्र : आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, पृ० 69
25. N.L. Gupta (Edited), Nehru on Communalism, p 27
26. N.K. Dutt : Origin and growth of caste in India, p-3
27. G.S. Ghurye : class and occupation, p. 227
28. E. Blunt : Social Service in India, p 49-50
29. N.K. Dutt : Origin and growth of caste in India, p-3
30. विजय कुमार अग्रवाल : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामन्ती जीवन, पृ० 233
31. प्रो० एम०एन० श्रीनिवास : आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ० 21
32. वही, पृ० 87
33. Prof. Yogendra Singh : Modernization of Indian Tradition, p-7
34. ए०आर० देसाई : भारत का विकास मार्ग, मार्क्सवादी दृष्टि, पृ० 214-215
35. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU), भारत : लोकतंत्र और विकास, पृ० 54
36. Prof. Yogendra Singh : Social Stratification and Change in India, p 110
37. मेराज अहमद : विकास का समाजशास्त्र, पृ० 137
38. ए०आर० देसाई : भारत का विकास मार्ग, मार्क्सवादी दृष्टि, पृ० 32
39. Government of India, Planning Commission, Ninth Five Year Plan, Vol.I, P-3
40. Government of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol.I, Box 1.1, P-6
41. Government of India, Planning Commission, Eleventh Five Year Plan, Vol.-I, P-2

42. Government of India, Handbook of Industrial Policy and Statistics, 1996, Exhibit on 'Industrial Policy Resolution (30th April 1956), p-12
43. Ajit Roy : Planning in India, p-443
44. ए०आर० देसाई : भारत का विकास मार्ग, मार्क्सवादी दृष्टि, पृ० 79
45. वही, 100—101
46. कमलनयन काबरा, भूमण्डलीकरण : विचार, नीतियाँ और विकल्प, पृ० 22—23
47. अभय कुमार दुबे : भारत का भूमण्डलीकरण, पृ० 29
48. मुकेश कुमार, सुधांशु शेखर : भूमण्डलीकरण नीति और नियति, पृ० 353
49. श्यामाचरण दुबे : संक्रमण की पीड़ा, पृ० 16—17
50. प्रभा खेतान : बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न, पृ० 32
51. डॉ० खगेन्द्र ठाकुर : आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद, पृ० 152
52. सच्चिदानन्द सिन्हा : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, भूमिका, पृ० 7—8
53. प्रो० एस०एस० कुशवाहा : भूमण्डलीकरण का नीतिशास्त्र, आलेख, पृ० 11
54. सच्चिदानन्द सिन्हा : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, भूमिका, पृ० 1
55. राम आहूजा : सामाजिक समस्याएँ, पृ० 227
56. डॉ० गणेश पाण्डेय : भारतीय सामाजिक समस्याएँ, पृ० 96
57. वही, पृ० 152
58. प्रो० योगेन्द्र सिंह : डबलपमेन्ट इन इंडिया, कन्टीन्यूटीज एंड कांट्राडिक्शन, इन के०एस० शुक्ला, अदर साइड ऑफ डबलपमेन्ट, पृ० 87
59. टी०बी० बाटोमोर : समाजशास्त्र, पृ० 202
60. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU), भारत : लोकतंत्र और विकास, पृ० 28—29



तृतीय अध्याय

वीरेन्द्र जैन का व्यक्तित्व और कृतित्व

3.1 वीरेन्द्र जैन का व्यक्तित्व :

हिन्दी साहित्य के युवा कथाकारों में वीरेन्द्र जैन का नाम अग्रगण्य है। इनका जन्म पांच सितम्बर 1955 को गुना जिला, मध्यप्रदेश के सिरसौद गाँव में एक जैन परिवार में हुआ था। दस भाई एवं बहनों में वे अपने माता-पिता की सातवीं संतान हैं। इनके पिता तीन भाई थे। पितामह दो भाई। इनके परिवार में खेती और साहूकारी का काम होता था इनकी माँ जमींदार परिवार से हैं। पाँचवीं कक्षा तक की पढ़ाई लेखक के गाँव की प्राथमिक पाठशाला में हुई उसके बाद अन्य भाईयों की तरह इन्हें भी शहर में पढ़ने भेज दिया गया। कक्षा छः से दस तक (दसवीं की परीक्षा नहीं दे सके) दिल्ली के 'जैन हायर सेकेंडरी स्कूल' में पढ़ाई की। इसी बीच 'कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय' से संस्कृत की प्रथमा, पूर्व मध्यमा और उत्तर मध्यमा परीक्षाएँ भी पास कर लीं थीं इसलिए फिर से दसवीं में पढ़ने के बजाय 'राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान' (शिक्षा मंत्रालय) नई दिल्ली के शास्त्री पाठ्यक्रम में प्रवेश ले लिया। 'महावीर विश्वविद्यापीठ और लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' में पढ़ते हुए शास्त्री, शिक्षा शास्त्री (बी०एड०) और साहित्य और जैन दर्शन से आचार्य (अपूर्ण) की परीक्षाएँ पास कीं। फिर आचार्य द्वितीय वर्ष से पढ़ाई का सिलसिला टूट गया।

कक्षा दस में आते न आते अपनी गुजर-बसर का भार स्वयं वीरेन्द्र जैन को उठाना पड़ा। प्लास्टिक का पाउडर भरने, एक प्रज्ञा चक्षु विद्वान को साहित्य पढ़कर सुनाने, उनके बोले को लिखने, उनलोपिलो के गद्दे बेचने, तार बनाने की फैक्ट्री में हैल्परी करने, सब्जी मंडी में आढ़तियों की बोलियाँ लगाने, कैंटीन चलाने, सुई, धागे, बटन, कफ, कॉलर, दवाइयाँ सप्लाई करने, एक मंदिर में पुजारी का काम करने, और भी कुछ छोटे-छोटे काम करने के एवज में जो मिला उसी से गुजर-बसर की, और पढ़ाई जारी रखी। इसी बीच उन्हें कुछ छात्रवृत्तियाँ भी प्राप्त हुईं।

सन् 1973 में पहली ठीक-ठाक नौकरी 'भारतीय ज्ञानपीठ' में मिली। फिर 1976 में जैनेन्द्र कुमार के 'पूर्वोदय प्रकाशन' में, 1977 में 'राजकमल प्रकाशन' में, 1979 में दिल्ली प्रेस की 'सरिता-मुक्ता पत्रिका' में उन्हें उपसंपादक का पद मिला तथा 1982 में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया ग्रुप की सारिका' में और 1991 से वे इसी ग्रुप के 'सान्ध्य टाइम्स-पत्रिका' में उपसंपादक के पद पर कार्यरत हैं।

23 जून, 1979 को 'मणिकांता चौधरी' के साथ उनका विवाह हुआ। 1981 में पहली संतान पुत्र 'प्रतीक' का जन्म हुआ, जो उसी वर्ष अकाल में ही काल-कवलित हो गया। 1983 में पहली बिटिया 'भूमिका' का जन्म हुआ और 1986 में दूसरी बिटिया 'इति' का। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में वीरेन्द्र जैन की रचनाएँ एवं लेख प्रकाशित होते रहे हैं। कई रचनाओं का अनुवाद कन्नड़, तेलगू, मराठी, मलयालम, अंग्रेजी, पंजाबी और अन्यान्य भाषाओं में हो चुका है। रचनात्मक लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता भी उनका पेशा रहा है। विभिन्न प्रतिनिधि संकलनों में भी कई रचनाएँ संकलित हो चुकी हैं। उनके लेखन का प्रारम्भ 1977 से शुरू हुआ। पहली रचना व्यंग्य थी 'यदि मैं मंत्री बना तो।' पहला उपन्यास 'अनातीत' भी इन्हीं दिनों लिखा, लेकिन 1978 में पहले प्रकाशित हुआ दूसरा उपन्यास 'सुरेखा-पर्व'। शुरूआती चार उपन्यास 'वीरेन्द्र कुमार जैन' नाम से प्रकाशित हुई तत्पश्चात् अन्य रचनाएँ 'वीरेन्द्र जैन' नाम से प्रकाशित हुईं।

वीरेन्द्र जैन को अब तक प्राप्त पुरस्कारों और सम्मानों में वर्ष 1987 में प्रकाशित मध्यप्रदेश के लेखकों के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'शब्द-बध' के लिए मध्य प्रदेश साहित्य सम्मेलन की ओर से 'वागीश्वरी पुरस्कार' (1988) मिला। वर्ष 1988 में प्रकाशित दिल्ली के लेखकों के उपन्यासों में श्रेष्ठ उपन्यास 'सबसे बड़ा सिपहिया' के लिए हिन्दी अकादमी, दिल्ली की ओर से 'साहित्यिक कृति

पुरस्कार' (1990)। वर्ष 1989-90 में लिखी चालीस वर्ष तक की आयु के उपन्यासकारों की पांडुलिपियों में से सर्वश्री राजेन्द्र यादव, डॉ० निर्मला जैन और डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित 'डूब' उपन्यास के लिए वाणी प्रकाशन की ओर से 'प्रेमचन्द महेश सम्मान' (1991) मिला। वर्ष 1989, 1990, 1991 में प्रकाशित हिन्दी के उपन्यासों में से सर्वश्रेष्ठ 'डूब' के लिए मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से 'अखिल भारतीय वीरसिंह देव पुरस्कार'। वर्ष 1994 में प्रकाशित कथा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ श्री नामवर सिंह, कृष्णा सोवती, विष्णु खरे, मनोहर श्याम जोशी और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित उपन्यास 'पार' के लिए 'श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार' (1995) तथा मध्यप्रदेश के लेखकों की वर्ष 1994 से 1996 के बीच प्रकाशित कृतियों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'पंचनामा' के लिए पहला 'निर्मल पुरस्कार' 1997 (बुहरानपुर, मध्यप्रदेश) उन्हें प्राप्त हुआ।

साथ ही उपन्यास के क्षेत्र में निरंतर और सक्रिय योगदान के लिए "अखिल भारतीय नेताजी सुभाष चन्द्र बोस स्मृति सम्मान" से भी सम्मानित किया गया है। इसके अलावा वर्ष 1989 में प्रकाशित दिल्ली के लेखकों के 'बाल साहित्य' में श्रेष्ठ 'बात में बात में बात' के लिए हिन्दी अकादमी दिल्ली की ओर से 'बाल-साहित्य पुरस्कार' (1992) और वर्ष 1993 में प्रकाशित 'तीन चित्रकथाएँ' के लिए पुनः हिन्दी अकादमी, दिल्ली के 'बाल-साहित्य पुरस्कार' (1996) से पुरस्कृत किया गया है। अब तक उनकी विभिन्न विधाओं की लगभग तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें कि उपन्यास, कहानियाँ, व्यंग्य, बाल कथाएँ, उनके चुनिंदा वक्तव्य और वार्ताएँ शामिल हैं।

3.2 वीरेन्द्र जैन का कृतित्व :

वीरेन्द्र जैन का नाम नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय है। वे नए परिवेश और उसकी विडम्बनाओं के प्रति हमेशा जागरूक रहे हैं। समाज, शासन, धर्म, संस्कृति, व्यवस्था के दोहरे आचरण को उजागर करना, आतंक और आतताइयों की पहचान करवाना, विरोधाभासों को उघाड़ना, शोषितों और भरमाए गए लोगों, समूहों के भयातुर मौन को शब्द देना, उनके लेखन का उद्देश्य रहा है। वीरेन्द्र जैन सिर्फ समस्या को उपन्यास का विषय नहीं बनाते, बल्कि उससे भी आगे जाते हैं। वे विकास की गति और दिशा से उपजी विपदा को भी उपन्यास में ले आते हैं। उनके लिखे उपन्यासों का परिचय इस प्रकार है।

3.2.1 सुरेखा-पर्व :

वीरेन्द्र जैन का यह पहला लघु उपन्यास सन् 1978 में प्रकाशित हुआ। इसमें अनाथालय में पली-बढ़ी लड़की के सामाजिक शोषण का चित्रण किया गया है। सुरेखा एवं विद्या जैसी लड़कियों को अनाथालय में रहते हुए न केवल व्यवस्था तंत्र के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार और अकेलेपन की मानसिक पीड़ा भोगनी पड़ती है, बल्कि शादी के बाद भी पति एवं परिवार द्वारा अनाथ होने के कारण उन्हें तमाम तरह की अमानवीय स्थिति एवं अत्याचार का सामना करना पड़ता है। एक व्यक्ति के रूप में अनाथ होना सबसे बड़ी सामाजिक त्रासदी है इसकी पीड़ा व्यक्ति को जीवन पर्यन्त भोगनी पड़ती है इस पर भी यदि वह लड़की हो तो उसका दुख दुगना हो जाता है। अनाथालय में रहते हुए सुरेखा को व्यवस्थापक के लड़के की लोभी एवं कामुक स्थिति का सामना करना पड़ता है— “सुरेखा जीजी बोलीं हरामजादे, तू यहाँ शरीफ लड़कियों के कमरे में क्या करने आया है ?”..... वह बोला, “बड़ी शरीफ बनती है। अपनी माँ का भी पता है तुझे।”¹ यह

मर्मन्तिक उत्तर उसके व्यक्तित्व को मानो बौना एवं असहाय बना देता है। लेकिन जल्दी ही वह इससे उबरती भी है और उस लड़के को बेइंतहा जो भी चीज हाथ लगती है उसी से पीटना शुरू कर देती है। उसकी इस कार्रवाई में जन्म-जन्म से शोषित एवं अपमानित अनाथ लड़की के भीतर धधकती हुई अग्नि की ज्वाला दिखायी देती है।

इस पूरे घटनाक्रम में वीरेन्द्र जैन ने समाज सुधार का ठेका लेने वाले लोगों की सेवा-कार्य की आड़ में की जा रही नंगई को भी खोलकर रख दिया है— “इस घटना का बहुत प्रचार हो गया। समाज ने बहुत थू-थू की और कुछ तथाकथित समाज-सुधारक इस पर सहानुभूति जताने आश्रम में आवाजाही करने लगे। वे जिस स्नेह से लड़कियों के अंग-प्रत्यंग को सहलाने की कोशिश करते उससे लड़कियों के तन-बदन में आग लग जाती, पर चुप रह जाना पड़ता।”²

शोषण का यह चक्र सुरेखा के साथ उसकी शादी के बाद भी चलता रहता है। समाज सुधारक का बेटा उससे शादी रचाकर एवं कुछ दिन की ऐय्याशी के बाद पुनः उसे अभिशप्त जीवन जीने के लिए छोड़ देता है। सुरेखा के समान ही विद्या एवं अन्य अनाथ लड़कियों को भी इस अमानवीय स्थिति का सामना करना पड़ता है। अनाथालय से निकली लड़कियों की दयनीय स्थिति का चित्र हमें विद्या की अन्य सहपाठियों द्वारा सुनाये किस्सों में भी दिखायी पड़ता है — “मैंने आश्रम में आने के बाद ढेरों किस्से आश्रम की पुरानी लड़कियों के बारे में सुने थे— कि उनका पति उन्हें छोड़ गया—कि उनके पति ने सिर्फ ऐयाशी के लिए उनके साथ शादी की—कि वह उनका शोषण करता है। या उनसे नाजायज काम कराता है।”³ इस प्रकार यह सुरेखा-पर्व लगातार चलता रहता है और आज भी वे अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हैं।

3.2.2 अनातीत :

वीरेन्द्र जैन का यह दूसरा लघु उपन्यास सन् 1983 में प्रकाशित हुआ। यह समाज में विधवा की असहाय एवं दयनीय स्थिति को आधार बनाकर लिखा गया है। नारी के लिए वैधव्य की पीड़ा अभिशाप के समान है। जहाँ उसे न केवल अपने पति के खोने से उत्पन्न अकेलेपन की यंत्रणा को झेलना पड़ता है। बल्कि समाज एवं परिवार द्वारा लादे गए तमाम तरह के सामाजिक बंधनों का भी सामना करना पड़ता है। लोग उसके साथ आम इंसान के समान व्यवहार न करके हमेशा उसे अबला एवं असहाय समझ दया एवं सहानुभूति दिखाने में ही अपनी सार्थकता महसूस करते हैं। ऐसी स्थिति में उसकी पीड़ा और भी बढ़ जाती है।

अनातीत की सुषमा वैधव्य की इसी पीड़ा को झेल रही है। उसका पति उसे युवावस्था से ही छोड़कर चल बसता है, उस पर से एक नन्हें बच्चे को पालने का भार, जो एक तरफ उस पर ढेर सारी जिम्मेदारियाँ लाद देता है। तो दूसरी ओर उसके सूने एवं निःस्पन्द मन में जीने की चाह भी भरता है। इन कठिनाइयों को झेलते हुए भी वह चाहती है, कि लोग उसके साथ सामान्य आदमी की तरह व्यवहार करें – “मेरे बच्चे को जो संस्कार मिल रहे हैं क्या मैं उन्हें रोक सकती हूँ ? सभी उससे सहानुभूति रखते हैं। जबकि उसे स्नेह चाहिए। लेकिन लोग हैं कि उस पर तरस खाते हैं। उस बेचारे को तो अभी यह भी पता नहीं कि अभाव होती क्या चीज है। फिर तरस क्यों स्वीकारे ?..... मैं पूछती हूँ मुझे सहज रूप में स्वीकारने में क्या कठिनाई आ गई है। वे सब मेरी ओर इस तरह पेश आकर क्या यह नहीं जतला देना चाहते कि इस पुरुष-प्रधान व्यवस्था में मेरे लिए सम्मानजनक स्थान कभी न होगा ? हाँ दयालुता, जो एक उदार गुण है, उसे ही हासिल कर सकूँगी मैं ?”⁴

वीरेन्द्र जैन ने अपने इस उपन्यास में विजय एवं सुषमा के बीच रहे प्रेम सम्बन्ध को फलैशबैक (पूर्व दीप्ति) पद्धति के रूप में दिखाया है। इस प्रगाढ़ प्रेम में भी जब निर्णय लेने का अवसर आता है तब विजय अपने पिता की रूढ़िवादी इच्छा के कारण सम्बन्ध से हाथ झाड़ लेता है। सुषमा के विधवा हो जाने पर भी वह सहानुभूतिवश ही उसके करीब पहुँचता है एवं ढाँढस बँधाता रहता है। लेकिन समाज एवं परिवार की पारम्परिक मान्यताओं को तोड़कर सुषमा को पुनः अपनाने का साहस नहीं कर पाता है। लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक 'अनातीत' ठीक ही रखा है कि विधवा का जीवन शुरू से अन्त तक एक ही समान यानि दुःखमय ही रहता है। उसमें 'अतीत' नाम की कोई सुन्दर वस्तु नहीं होती है।

3.2.3 शब्द—बध :

वीरेन्द्र जैन का पहला बहुचर्चित उपन्यास सन् 1987 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास लेखक की अस्मिता को प्रकाशन जगत की पृष्ठभूमि में तलाशने का प्रथम प्रयास है। इसमें निरंतर चालीस वर्षों से हो रहे 'व्यक्ति—बध' को 'शब्द' देने की कोशिश की गयी है। जिसकी शुरुआत कभी राजकमल चौधरी, त्रिलोचन अथवा मुक्तिबोध जैसे साहित्यकारों ने की थी।

इस उपन्यास में लेखक और प्रकाशक के बीच के रिश्तों की कहानी है, जिसे लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर उस भोगे हुए यथार्थ को दो खण्डों में प्रस्तुत किया है। पहला खण्ड—'प्रवेश' लोक हितकारी के अनुभवों का विवरण लिए है तो दूसरा खण्ड—'प्रशिक्षण' क्रमशः अरिहंत कुमार और उनके बेटे के प्रकाशन, बलभद्रजी, प्रतिबद्ध प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड और समूचे प्रकाशन जगत का। यहाँ हर लेखक एक बिकाऊ चीज के तौर पर स्वीकार किया जाता है। और उसकी कीमत लेखक की क्वालिटी नहीं, अवसर और सहूलियतों को देखते हुए वे

अपढ़ लोग तय करते हैं जिनकी भाषा में किताब कोई भी क्यों न हो, 'एक नया टाइटिल' ही मानी जाएगी, यहाँ पुत्र प्रकाशक भी अपने लेखक पिता को उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में किसी अन्य लेखक को।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र 'आनंदवर्धन' एक बेरोजगार, युवा लेखक है जो रोजी-रोटी के लिए लिखने-पढ़ने का काम ढूँढते हुए एक बड़े प्रकाशन गृह लोकहितकारी कार्यालय में प्रवेश पाता है। यह संस्थान एक न्यास है जो नफा-नुकसान के सोच के दायरे से बाहर, मालिकों के लिए कर बचाने और बचे धन को खपाने का एक माध्यम है। इसके घाघ संचालक जी भी कभी लेखक थे, संस्कृति, धर्म और साहित्य में रुचि रखते थे। इनके सम्बन्ध में लेखक के विचार उल्लेखनीय हैं — "यह न्यास इन्होंने अपनी देख-रेख में शुरू करवाया, और धीरे-धीरे ये जाने कब बुद्धिजीवी से व्यवस्थापक में, नौकर में तब्दील हो गए, पहले यह कर्म था, अब स्वभाव बन गया है.....पहले उसे इन्होंने ओढ़ा-बिछाया, अब उसने इन्हें अपना बिछौना बना लिया है।"⁵

इस न्यास से निकलकर आनंदवर्धन एक बड़े लेखक अरिहंतजी के निजी प्रकाशन संस्थान में पहुँचकर उनकी रचनात्मक त्रासदी देखता है, जहाँ प्रकाशक के रूप में बेटा अपने बाप की किताब का बड़ा संस्करण छापने को तैयार नहीं है, लेकिन घटिया किस्म के चालू उपन्यास छद्म नाम से प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकाशन जगत की वास्तविकता को रेखांकित करते हुए आनंद का मित्र कहता है— "बंधु यह हिन्दी प्रकाशन जगत है। कभी यहाँ साहित्यकार पूजे जाते थे। प्रकाशन व्यवसाय तब व्यवसाय नहीं सरस्वती की पूजा माना जाता था..... अब इन्हें चलाते हैं शुद्ध बनिये।"⁶ वहाँ काम छोड़ने से पहले आनंदवर्धन, अरिहंतजी के प्रकाशक पुत्र से कहता है— "आप ! दरअसल हत्यारे हैं ! आपने अरिहंत की हत्या की है।

हिन्दी साहित्य जगत का अहित किया है आपने ! आप शत्रु हैं हमारे ! आप जानते हैं अरिहंत कितना बड़ा नाम है ! वे कितने वर्षों से, कितने रूपों में छपते-बिकते रहे हैं ? पढ़े-पढ़ाए जाते रहे हैं ? लोग आज जबकि उनकी तरफ टकटकी लगाए इस इन्तज़ार में हैं कि अपने समय की इन विषम परिस्थितियों से जूझने का वे कोई रास्ता बताएँगे हमें, आपने उन्हें गूँगा-बहरा कर दिया। उनके हाथ कलम कर दिए !”⁷ इसके बाद आनंदवर्धन अपने व्यंग्य संग्रह और उपन्यास की पांडुलिपियाँ लेकर भांति- भांति के प्रकाशकों के चक्कर लगाते-लगाते परेशान हो जाता है। परन्तु काम नहीं बनता। उसे किताबें बेचने का काम देने को लोग तैयार होते हैं, पर उसकी किताबें छापने को नहीं। अंततोगत्वा उसे प्रतिबद्ध प्रकाशन नाम की एक बड़ी प्रकाशन संस्था में नौकरी करनी पड़ती है जिसकी प्रबंध निदेशिका श्रीमती कांताकौर नाम की एक तेज-तर्रार महिला है, जिन्हें लेखकों के ही नहीं, अपने कर्मचारियों, छोटे प्रकाशकों और यहाँ तक कि अपने शेयर होल्डर्स के भी कान काटने में महारत हासिल है।

प्रतिबद्ध प्रकाशन में नौकरी करते हुए आनंदवर्धन को जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उनको पढ़कर वामपंथ के नाम पर ठगी करने वाले प्रकाशन व्यवसायियों की पोल खुल जाती है। श्रीमती कांताकौर के लिए साम्यवाद कामधेनु है, वह ‘साम्यवादी’ हैं, साम्यवाद का प्रचार करना उनके प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य है। साम्यवादी देशों से उनके अच्छे ताल्लुकात हैं। साम्यवादी विचारधारा को मानने वाले लेखक ही वहाँ से छपते हैं। लेकिन विभिन्न विश्वविद्यालयों में घूस देकर अपने संस्थान द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को पाठ्यक्रम में लगवाना उनके लिए बाँए हाथ का खेल है। “ऐसे ही एक अभियान में जब कथानायक विश्वविद्यालय पहुँचता है, तो ऐसा लगता रहा जैसे किसी जिंस की आढ़त में, नीलामी में आ पहुँचा है।

पूरे दिन किताबों की बोलियाँ लगती रहीं। जैसे आढ़तिए चिल्ला रहे हों, रेणु, यशपाल, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, मोहन, सोहन, राही, बेराही, भ्रमर, मक्खियाँ, पतंगे, तिलचट्टे—सबके नामों की बोलियाँ लग रही थीं। विद्यार्थी क्या पढ़ें, यह विद्वान नहीं, आढ़तिए तय कर रहे थे।⁸ यहाँ भी नायक तमाम ईमानदारी के बावजूद अपनी प्रतिभा का स्वयं संरक्षक नहीं बन पाता है और स्थिति यहाँ तक पहुँचती है कि व्यवसाय की होड़ में बौराई हुई मालकिन (श्रीमती कांताकौर) नायक की किताबों के बंडल जलवा देती है। नायक का त्यागपत्र भी इसी आग के हवाले करती है और आनंदवर्धन यानि नायक को उसी वक्त नौकरी से बर्खास्त कर देती है। हल्के द्वन्द्व के बाद नायक एक और दुनिया ही तरफ जाता है — पत्रकारिता की दुनिया। यह उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है।

अतः प्रतिबद्ध प्रकाशनों, लोकहितकारी संस्थानों या न्यासों की राजनीतिक इजारेदारी ने हमारे समूचे अर्थशास्त्र को प्रभावित किया है जिससे 'काला धन' बढ़ा है और शोषित लेखक की स्थिति बद से बदतर हुई है। इसका खामियाजा साहित्य को भी भोगना पड़ रहा है। और अच्छी रचनाएँ राजनीतिक साजिशों का शिकार हो रही हैं।

3.2.4 सबसे बड़ा सिपहिया :

यह उपन्यास सन् 1988 में प्रकाशित हुआ। इसमें पुलिस-विभाग में नीचे से ऊपर तक होने वाले भ्रष्टाचार और पुलिस द्वारा आम जनता पर किए जाने वाले अत्याचार का पर्दाफाश किया गया है। यह उपन्यास पुलिस की आन्तरिक संश्लिष्ट रचना का भी दस्तावेज है। क्योंकि इसमें पुलिस के भीतरी क्रिया-कलाप का ताना-बाना दूसरे शब्दों में पुलिसिया तंत्र की क्रूर करतूतों का प्रामाणिक विवरण व्यवस्थित रूपाकार में पाठक के सामने रखा गया है। यानि थाने के अदना

कांस्टेबल से लेकर ड्यूटी ऑफिसर तक और ड्यूटी ऑफिसर से लेकर डी०एस०पी, एस०एस०पी० तक होते हुए आई०जी० तक, सब किसी भी क्रूर अपराधी से अधिक बड़े अपराधी और किसी भी कुख्यात संगठित आपराधिक गिरोह से अधिक ताकतवर गिरोहबंद ऐसी मशीन के कलपुर्जे हैं जो आदमी की हर तकलीफ, परेशानी की ओर से पूरी तरह आँखें मूँदे मानवीय, सामाजिक, नैतिक, वैधानिक मूल्य, मान्यता, नियम, कानून को रोंदती, कुचलती सामाजिक सभ्यता की सारी हदों को तोड़ती-ढहाती एक अश्लीलतम व्यवस्था—तंत्र का हिस्सा बन चुके प्रतीत होते हैं।

यह व्यवस्था—तंत्र पत्रकार आनंद द्वारा अपने घर में हुई चोरी की रपट थाने में लिखाने जाने के क्षण से खुलना शुरू होता है और तब तक खुलता रहता है जब तक कि आई०जी० के बारे में 'ईमानदार' इण्टरव्यू के प्रकाशन के पुरस्कार स्वरूप पत्रकार महोदय कुट-पिट नहीं जाते और उनके घर की चोरी का आरोप उनके सगे मित्र की पत्नी पर नहीं मढ़ दिया जाता। इस उपन्यास में सबसे ज्यादा हिला देने वाला प्रसंग है, एक गुंडे द्वारा सताई गई युवती की रपट—कथा। पुलिसकर्मियों की पूछताछ का तरीका किस 'खूबसूरती' से उजागर हुआ है वह किसी भी संवेदनशील आदमी को झकझोर देने के लिए काफी है। डी०ओ० युवती से बोला, "अब तुम इसी बेंच पर उसी तरह लेट जाओ जैसे कल रात अपने घर में चारपाई पर लेटी थीं और तब बताओ कि उस कमीने, हरामजादे ने कैसे और क्या छेड़छाड़ की तुम्हारे साथ।"⁹

इस प्रकार थाने में रपट लिखाने आई युवती के साथ पुलिसकर्मियों का बलात्कार की हद तक उतर जाना, वृद्ध सज्जन के बटुए को हड़पना, अवैध शराब की बोतलों पर हाथ साफ करना, मृत बच्चे के बाप के साथ थानेदार की

‘सहृदयता’, किराएदार — मकान मालिक के झगड़े में दोनों ही पक्षों से ‘उगाही’ करवाना, पैसे लेकर किसी भी गलत के पक्ष में खड़े होकर किसी भी ‘सही’ को अपराध में तब्दील करने जैसी पुलिसिया महारत को तो यह उपन्यास सामने रखता ही है, पुलिसिया नम्रता-विनम्रता के नमूने भी यदा-कदा प्रस्तुत करता है — “ज्यों ही उन्होंने आनंद के मुखकमल के दर्शन किए कि उनका पारा चढ़ गया, “अब क्या यहाँ अपनी माँ..... आया है ?”

“जी नहीं।”

“अब क्या यहाँ मराने बैठा है ?”

“ऐसा कोई इरादा नहीं है” आनंद ने फिर नकारा।”¹⁰

इस तरह के ‘सद्भावी संवाद’ सारे उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। इनका उपयोग वीरेन्द्र जैन ने मात्र पुलिस भाषा के रूप में नहीं किया बल्कि अपनी विशिष्ट व्यंग्य शैली के एक औजार बतौर भी किया है।

पत्रकार महोदय थाने से बैरंग लौट आते हैं बिना रपट दर्ज कराए क्योंकि वह सामान्य व्यवहार को निभाने में असमर्थ हैं। नहीं रपट लिखाने के लिए वे कागज-पेन का बन्दोबस्त कर पाते हैं। और न ही पुलिसकर्मियों में रपट लिखाने लायक स्फूर्ति पैदा करने के लिए ठंडे-गर्म का प्रबन्ध कर पाते हैं। ‘सत्यवादी हरिश्चन्द्र’ बने पूरा दिन थाने की बेंच पर बैठकर एवं थानेदार के दर्शनों के लिए भटकने के बाद लौट आते हैं। अपने साथ एक अनुभव लेकर — “आज उसकी समझ में अच्छी तरह आ गया था कि थाना कहते किसे हैं। वह जगह जहाँ आपको सुरक्षा का भरापूरा आश्वासन देकर बुलाया जाता है, आकर्षित किया जाता है, मगर वहाँ होता है आदमी की खाल ओढ़े आदमखोर भेड़ियों का हुजूम, जो

दरवाजों की ओट में अपने पैने—नाखून छुपाए आपका इंतजार कर रहा होता है और भीतर प्रवेश करते ही आपके तमाम जिस्म को चाक—चाक कर मांस का आखिरी कतरा तक चबा जाता है और तिस पर भी डकार नहीं लेता, क्योंकि उसकी भूख तब भी शांत नहीं होती और शायद इन दरिंदों की भूख तो देश की तमाम जनता की बोटियाँ चबा जाने पर भी शांत नहीं होने वाली।”¹¹

उपन्यास के अंत में इस पूरे हादसे के बाद पत्रकार आनंद के सामने भी वही सवाल उठता है जो सामान्य नागरिक के सामने है— मैं थाने में आया किस लिए था ? और वह इस नतीजे पर पहुँचता है, “लोक बड़ा ना रूपैया, सबसे बड़ा सिपहिया!”¹² अंततः आनन्द की सारी खोजी पत्रकारिता, पुलिस का सही चरित्र बयान करने की बेबाकी, पुलिस हथकड़ों के सामने मुँह के बल गिर पड़ी। उसके सामने ऐसा कोई भी रास्ता बाकी नहीं बचा जहाँ वह स्वयं को इस सारी कालिमा से बरी कर सके। चोरी में पत्नी के गहने और दीगर सामान अलग स्वाहा हो गया।

इस उपन्यास के कथानक में एक कमी जरूर आई है। उपन्यास पुलिस तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार व कर्तव्यनिष्ठा के प्रति उदासीनता को तो अभिव्यक्त करता है, पर पूरी व्यवस्था के अनैतिक हो जाने के पीछे जो कारण हैं उन्हें साफतौर पर नहीं उठा पाता।

3.2.5 तलाश :

यह लघु उपन्यास सन् 1992 ई0 में प्रकाशित हुआ। वीरेन्द्र जैन ने ‘तलाश’ शीर्षक के अन्तर्गत एक पत्र के रूप में उपन्यास की रचना की है। इसमें ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है डाकुओं का आतंक, साहूकारों का

कसता शिकंजा और मठाधीशों के निहित स्वार्थों के बीच मुश्किल से साँस भर लेकर जीने वाले आम आदमी की व्यथा—कथा कही गयी है। 'पूजा बब्बा' जैसे भले लोगों के सद्कार्यों के कारण ही यह दुनिया चल रही है। अन्यथा भ्रष्टाचार इतना विस्तार पा चुका है कि हर क्षण, हर पल, पृथ्वी के रसातल में डूबने की आशंका बनी हुई है। 'मल्लू' को सम्बोधित अलग-अलग पत्रों में लेखक ने डाकुओं के आपसी झगड़े, पुलिस वालों के अवांछित आतंक जैसी विडंबनाओं के अच्छे चित्र खींचे हैं। डाकू लाखन सिंह, रमेश सिंह सिकरवार के आतंक और लोकनायक जयप्रकाश नारायण की आत्मसमर्पण योजना का जिक्र भी इस उपन्यास में किया गया है।

साहूकार, डाकू एवं पुलिस की मिलीभगत पर लेखक ने इस प्रकार प्रकाश डाला है।..... "सुनने में आया कि शंकर सिंह जैसे डाकू जहाँ हमारे गाँव के साहूकारों के संरक्षक थे, वहीं पुलिस, कोर्ट—कचहरी जैसे महकमों के खैरखाह भी थे। उन दिनों सुनते थे कि जितना खर्च राज्य सरकार का अपने तमाम कर्मचारियों पर होता था, उससे कई गुना अधिक रकम इन महकमों को डाकू—गिरोहों की ओर से नजर की जाती थी।"¹³

लेखक ने सामंती शोषण चक्र में पिसते हुए पिछड़े किसानों की दयनीय एवं कारुणिक स्थिति का भी चित्रण किया है। यहाँ सामंती शोषक वर्ग के प्रतीक रूप में हलके साब, धन्ना साब आदि साहूकार दिखायी पड़ते हैं जो न केवल गरीब किसानों को ऋण चक्र के जाल में फँसाकर उन्हें पूरी तरह निचोड़ लेते हैं। बल्कि उसकी सामाजिक, आर्थिक अस्मिता को भी खत्म करने पर तुले हुए हैं। लेखक ने कभी खत्म न होने वाले ऋण चक्र का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है ... "कर्ज ! खाता—बही ! असामी ! ये सब मेरे सुने हुए शब्द थे। बचपन से ही सुनता आ रहा

था। मगर इनके तिलस्म से परिचित नहीं था मैं। मेरी समझ में यह कभी नहीं आया था कि इन चन्द बहियों में ऐसी क्या खासियत है जो हम खुशहाल हैं, और इन्हीं बहियों में दर्ज लोग फटेहाल। और जब मैंने बही-खातों को देखा, पढ़ा और गुना तो मेरा परिचय एक ऐसी दुनिया से हुआ जिसकी मैं कल्पना तक नहीं कर सकता था। वहाँ एक विचित्र संसार पसरा पड़ा था। एक-एक कागज पर चस्पा कई-कई पीढ़ियों के अंगूठे के निशान यह सिद्ध कर रहे थे कि हमने पिछली कितनी पीढ़ी पहले एक बूँद पानी किसी प्यासे को पिलाया था और बदले में उसकी कितनी पीढ़ियाँ हमारे रक्त-स्नान के लिए अपने खून की एक-एक बूँद देकर भी उन्नत नहीं हो सकी हैं।¹⁴ इस प्रकार वीरेन्द्र जैन ने यहाँ साहूकार, डाकू एवं पुलिस के तिहरे चक्र में फँसे हुए गरीब किसान की मर्मगाथा का बयान किया है और इन शोषकों के नंगे चेहरों को समाज के सामने उघाड़ने का प्रयास किया है।

3.2.6 डूब :

वीरेन्द्र जैन कृत 'डूब' उपन्यास सन् 1991 ई० में प्रकाशित हुआ। बुन्देलखण्ड की सीमा पर स्थित बेतवा नदी के तट राजघाट पर बाँध बनाने की योजना के शुरू होने के दुष्परिणामों को लेखक ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'डूब' में दिखाया है। पर उसका समापन 'पार' उपन्यास से होता है। चूँकि 'डूब और पार' उपन्यासों की समस्या का केन्द्र बेतवा है। इसलिए सन्दर्भ की समासिकता और उसकी निष्पत्ति को ठीक-ठीक समझने के लिए दोनों उपन्यासों को एक-दूसरे का पूरक मानना ही सम्भव है। 'डूब' की पृष्ठभूमि बुन्देलखण्ड का ग्राम समाज है तो 'पार' की पृष्ठभूमि उसी अंचल का आदिवासी समाज है। ये दोनों समाज उजड़ रहे हैं और इन्हें उजाड़ रही हैं विकास के नाम पर शुरू की जाने वाली अधकचरी,

दृष्टिहीन और बदनीयत योजनाएँ। ऐसा लगता है कि वीरेन्द्र जैन ने 'नर्मदा नदी परियोजना और मेधा पाटेकर' को दृष्टि में रखकर ही इन उपन्यासों की रचना की है।

जहाँ कहीं भी बाँध बनते हैं उस बाँध से रुकने वाले जल से डूब जाने वाले गाँवों के लोग विनाश का सामना करते हैं। प्रतीक रूप में 'डूब' उन लाखों लोगों की कथा है जो विकास के नाम पर अपने गाँव एवं घरों से बाँधों के बनाये जाने पर विस्थापित होते हैं और ठीक ढंग से अपने आपको पुनः स्थापित नहीं कर पाते। लेखक ने पाठकों को यही बताने का प्रयास किया है। 'डूब' के 'माते' कहते हैं — "उस विकास से क्या फायदा जो मनुष्यों को उखाड़ दे, बेघरवार कर दे, उन्हें गलत जगह रोप दे, उनकी सहजात इच्छाओं को रौंद दे।"¹⁵

इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु 'लडैई' गाँव है, इसमें बहुत पात्र हैं, जो आते हैं, चले जाते हैं और प्रामाणिक होते हुए भी अपनी प्रासंगिकता के प्रति सवाल छोड़ जाते हैं, किन्तु कुछ पात्र ऐसे हैं जो अपनी आद्यंत या खंडित यात्रा से कथानक—विन्यास में अपनी अपरिहार्य भूमिका का परिचय देते हैं। माते, ठाकुर देवी सिंह, मोती साव, मास्साब, घूमा, अट्टू साव, कैलाश पंडित, गोराबाई, रामदुलारे, अरविंद ऐसे ही पात्र हैं।

योजनाकारों ने वर्षों पहले इस राजघाट पर बाँध बनाने की एक महत्वाकांक्षी योजना बनाई। इसके बाद साल पर साल बीतते चले गए, विभिन्न चरणों में योजना बदलती रही और ऊपर से नीचे तक दलालों तथा साहूकारों की फौज बड़ी होती चली गई। इस इलाके में आम आदमी को कुछ हासिल हुआ तो बस बदहाली और विस्थापन का एक न खत्म होने वाला सिलसिला। 'डूब' की यह व्यथा—कथा ये भी बताती है कि विस्थापन और पुनर्वास के वही माइने नहीं होते,

जो सरकारी शब्दकोशों में दर्ज हैं, विस्थापित समाजों को भटकाव की जो अंतहीन नियति झेलनी होती है उसे लडैई के 'माते' जानते हैं, उसे राउत खेरे के मुखिया और गुनिया समझते हैं, उसे वे आदिवासी औरतें जानती हैं जिन्हें इसी विकास का दलाल निर्मल साव शहर में बेच आया है।

सरकार लोगों को बड़े-बड़े सपने दिखाती है और यह दिलासा देती है कि बाँध बनाने से तुम्हारे यहाँ खुशहाली आयेगी, लेकिन गाँव वाले सोचते हैं कि —“हमसे तो तुमने छीना ही छीना है। मदरसा छीना, मोटर छीनी, सड़क छीनी, तेंदू पत्ते का रोजगार छीना, मास्साव छीने, रघु साव छीने, मुसलमान भाई छीने, अट्टू साव छीने, शांति छीनी मेलजोल छीना।”¹⁶

लेखक ने 'माते' नामक पात्र के द्वारा उस विकास का विरोध किया है, जो लोगों को विनाश की ओर ले जाता है। इसीलिए वहाँ के लोग सोचते हैं कि पहले अंग्रेज हमें सताते थे और आज हमारे अपने जो सरकार में हैं, हमें सता रहे हैं। गाँव वाले सरकार की तुलना डाकुओं और भंड्यों से करते हुए कहते हैं — “वाहरी सरकार, तूने हमें जनम-जिंदगी में कुछ दिया भी तो छलावे से दिया ! तुझसे इतना भी न हुआ कि साव लोगों की छाती पर न्याय का पंजा गड़ाकर कहती कि बहुत कर लिया गरीबों के साथ अन्याय। अब इनका हक इन्हें वापस सौंप दो। तुझसे तो भंडया भले, डाकू भले, जो इनकी छाती पर आ धमकते तो हैं।”¹⁷

इस उपन्यास के माध्यम से सरकार की जन-विरोधी नीतियों के विरुद्ध सार्थक ललकार दी गई है। खोखले चुनाव तंत्र को, पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण चक्र को, गाँव वालों की अज्ञानता को, अंधविश्वासों को, गाँव की चरमराती शिक्षा व्यवस्था को, गाँव में हो रही हिंसा को, सत्ताधारियों के कुकर्मों को, सरकार में हो रहे भ्रष्टाचार को लेखक ने बेनकाब करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। सब लोग

बारी-बारी गाँव छोड़कर चले जाते हैं। क्योंकि गाँव में अब कुछ रखा नहीं है, किन्तु कस्बे में जाकर भी भिन्न-भिन्न तरह से वे गाँव का अर्थदोहन करते रहते हैं। राजनीति और प्रशासन ने गाँव के लिए कुछ किया नहीं, बस डूब के नाम पर गाँव खाली करा लिया। गाँव वालों को मुआवजा देने की प्रक्रिया में अद्भुत ताल-मेल के साथ राजनीतिज्ञ, प्रशासक और व्यापारी गाँव वालों को लूटते हैं। बाँध के बाँधने पर भी गाँव नहीं बँधता।

नतीजतन जो उखड़े थे आमतौर पर उखड़े ही रहे। मुआवजा दिया गया तो उसका बड़ा हिस्सा अफसरशाही निगल गई, जो मिला उसका एक बड़ा भाग गाँव के साहू- साहूकार का कर्ज चुकाने में चला गया और बचा-खुचा शादी-ब्याह और जनम-मरण के आयोजनों में स्वाहा हो गया। विकास ने उन्हें ठन-ठन गोपाल बना दिया।

अंततः विकास चलता रहा, लोग उजड़ते रहे, दमन और शोषण का शिकार होते रहे और नरकीय जीवन जीने को विवश हो गए, यह देश के किसी एक अंचल की हकीकत नहीं है, सारे देश में बिखरी सच्चाई है। कहीं बाँध बनाने के लिए, तो कहीं कारखाना खड़ा करने के लिए लोगों को उजाड़ा गया। लेकिन अपनी जमीन से जुदा हुए इन लोगों को दूसरी जगह बसाने का कोई प्रयास नहीं किया गया, कहीं किया भी गया तो आधे मन से।

‘डूब’ में जहाँ ‘बाँध’ आधुनिक अंधाधुंध विकास का प्रतीक बन जाता है, वहीं बाजारी उपनिवेशवाद के लिए सभी दरवाजे खोल देने वाली नई आर्थिक नीति के कार्यकलापों को दर्शाता है। लेखक ने इस कृति द्वारा यह बताने की कोशिश की है कि गाँवों की तबाही तथा पर्यावरण की तबाही करके ही सरकार बाँधों का निर्माण करती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि ‘डूब’ विश्वग्राम के मुकाबले ग्रामीण संस्कृति और अस्मिता को प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर लोकतंत्र के

नाम से हो रहे अत्याचारों को बेनकाब करता है। उसने मौजूदा शासन तंत्र के अनैतिक अमानवीय दृष्टि को 'चील के मंडराने' से तुलना की है, जो हमेशा आतंक, अत्याचार और यंत्रणा फैला देती है।

3.2.7 पार :

इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1994 में हुआ। 'पार' अपने आप में स्वतंत्र उपन्यास नहीं, बल्कि वीरेन्द्र जैन के पिछले उपन्यास 'डूब' का ही विस्तार है। यह जीरोन और लडैई नामक दो गाँवों के माध्यम से खंडित हो रही जीवन पद्धति और अस्मिता को बचाए रखने की लड़ाई में गाँव के लोगों की भागीदारी की कहानी है। नियम-कानूनों, ज्ञान-विज्ञान की अनभिज्ञता के कारण शासन-प्रशासन और बिचौलियों की ठगी तथा धार्मिक अंधविश्वास उनकी तकलीफों को बढ़ा रहे हैं। संघर्ष की सामर्थ्य को कुंठित भी कर रहे हैं।

'पार' की कथा आदिवासी खेरे जीरोन से शुरू होती है। विकास, ज्ञान और मानव सभ्यता से कटे इस भूखंड का आधार प्रकृति है या आदिमकालीन खेती का तरीका। उनकी जरूरतें प्रकृति और खेती से पूरी होती हैं या लडैई जैसे गैर-आदिवासी गाँवों से चीजों के आदान-प्रदान वाले व्यापार से। जीरोन के आदिवासियों को विकास परियोजनाओं की कोई जानकारी नहीं है। वे प्रकृति पर बाहरी दखलों और उसके हरेपन के मिटने को ही देख रहे हैं। या फिर लडैई आदि गाँवों से लोगों के खिसक जाने के कारण आदान-प्रदान की मात्रा में आ रही कमी को। वे समझ रहे हैं कि स्थितियाँ अब उनके लिए वैसी उपयुक्त नहीं रहीं जैसी अब तक हुआ करती थीं। बाहरी दखलों को खदेड़ने का उपाय भी वे सोच रहे हैं। उन्हें ऐसा आभास भी हो रहा है कि लोग उजड़कर इधर-उधर भाग रहे हैं। यही उनका केन्द्रीय डर भी है कि कोई जीरोन में आकर न बस जाए।

मुइया और फुलिया इस उपन्यास में एक ख़ास जाति की अस्मिता का प्रतिरूप चरित्र हैं। यहाँ का अपना रिवाज, संस्कार है। मुखिया की अपनी व्यवस्था है जो चाहे जितना धर्म केन्द्रित हो, पर अमानवीय नहीं है क्योंकि वहाँ विश्वास की मजबूत नींव है। गुनिया, बरेदी जैसे बहुत से चरित्र इस व्यवस्था की छवि को दर्शाते हैं। इनके पास कोई शिक्षा नहीं है, न ही ये कहीं से भी व्यापक राष्ट्रीय धारा का हिस्सा ही हैं। अपनी अपढ़ता में वे चाहे जैसे भी हैं, कहीं से बेगाने नहीं लगते। पर क्षेत्र के विकास और सुविधा सम्पन्न बनाने के नाम पर उन्हें तोड़ दिया जाता है — जमीन से, घर से, गाँव से, यानि सब तरफ से। और इसके विपरीत लोगों की बहन-बेटियों की खरीद-बिक्री भी शुरू हो जाती है। क्षेत्र की आपसी कटुता का आलम यह है कि सदियों से अपनी ज़िन्दगी जी रही राउतों की मूल आदिवासी जाति, अपने पर पत्थरों की मार झेलती है। उनकी औरतें बहला-फुसलाकर बरबादी की भेंट चढ़ाई जाती हैं। तहसीलदार, घूरे साव जैसे चरित्र सरकार की अँधी बाँध योजना के परदे में जनता की जमीन के अधिग्रहण और मुआवजे बाँटने की रस्म के बाद मजबूर लोगों को फुसलाकर शेष बची जमीन को भी हड़प लेते हैं।

आदिवासियों के विकास के नाम पर उजाड़े जा रहे जंगल और राजघाट पर बन रहे बाँध के दानवी विस्तार क्षेत्र ने धीरे-धीरे आदिवासी समाजों को ही उजाड़ना शुरू कर दिया। यह समाज अपनी सामूहिकता में जीना चाहता है। मगर सामूहिकता में जीवनयापन की यह इच्छा विकास की नई मजबूरियों से पैदा हुई जरूरतों के आगे नाकाफी है। इस बात को राउत खेरे का मुखिया समझता है। मुखिया एक होने वाले मुखिया, दुनिया से कहता है। — “हमें गाँव वालों से किसी चीज-बसत का सहारा था क्या ? तब तो हम अपनी गुजर-बसर इसी डाँग से

कर लेते थे। अब दिनोंदिन गाँव वालों के आसरे होते जा रहे हैं। काहे! काहे कि अब डाँग में वह बरकत नहीं रही। तू भी तो जाता है डाँग में। बता तू ही कि कितना भटकने के बाद जलावन मिलता है। गाद मिलती है। शहद मिलता है। जड़ी-बूटियाँ तो जाने कहाँ समाती जा रही हैं। हम भले ही हरा-भरा रुख नहीं काटते। वह देवता है हमरी निगाह में। हमरा पालनहार। पर फिर भी हरेभरे रुख बच पाए ? हम उनका कटना रोक पाए ? रोक पाएँगे कभी ?..... अब ये शहर वाले नदी बाँध रहे हैं। तब प्रलय आएगी। जो अब तक बचा है वह सब भी स्वाहा हो जाएगा। तब हम कहाँ जाएँगे ? कैसे जिएँगे ?।”¹⁸ राम दुलारे, अरविंद पांडे और यशस्विनी जैसे पात्रों के उम्मीद भरे स्वर भी उपन्यास में उभरते हैं। जाहिर है, बदहाली के बावजूद उम्मीद पूरी तरह टूटी नहीं है।

‘डूब’ में लडैई डूब क्षेत्र में आ गया था। ‘पार’ में आकर पता चला लडैई डूब में नहीं आएगा, वहाँ अभयारण्य बनेगा। यानि लडैई की बारी बाँध परियोजना पूरी होने के बाद आएगी। विस्थापन की तलवार लटकी हुई है ज्यों-की-त्यों। पर विकास अब भी नहीं होगा—मुआवजे के इंतजार में कई वर्ष और बैठना पड़ेगा। ‘माते’ की चिंता गाँव को बसाये रखने और विस्थापन की तलवार तले से निकलने की है। ‘माते’ अपने मकसद के लिए गाँव के पढ़े-लिखे और लेखक बेटे के लौट आने की उम्मीद में हैं। रामदुलारे के लौटने पर जैसे गाँव की आशा ही लौट आती है। गाँव पर सरकारी बाँध के दबाव और गाँव वालों की ओर से जीरोन के आदिवासी समुदाय पर बरप रहे कहर पर एक आदिवासी का बयान देखिए, जिसमें उसने हमारे विकास पर कैसा तमाचा मारा है — “बताये कोई इन गाँव वालों को कि भैयाजू राउतों को शौक थोडेई है चमड़ी में रहने का। घाम, जाड़े, बसकारे में उधारे बदन, नंग-धड़ंग रहने का। यह तो हमरी लाचारी है।”¹⁹ गाँव वालों की

ओर से राउतों पर इसलिए भी अत्याचार होता है क्योंकि वे नंगे घूमते हैं। पर वस्त्र कौन दे, इसका जबाब किसी के पास नहीं है।

उपन्यास का अंत एक बड़े सवाल के रूप में पाठक को भौंचक स्थिति में छोड़ जाता है। कि विकास किस कीमत पर ? देश में विकास के नाम पर जो बाँध बने, डूब क्षेत्र घोषित हुए, वहाँ बसे लोगों की बेघरी की सुध किसने ली ? सही में उपन्यास की मूल चिंता विकास के प्रारूप को लेकर है। जन-जीवन को अस्त-व्यस्त कर, विनाश के कगार तक पहुँचा देने वाले विकास का औचित्य क्या है ? परिकल्पना में मानवीय पक्ष छूट क्यों जाते हैं ? 'पार' इसी की तह में जाने का प्रयास है।

3.2.8 पंचनामा :

यह उपन्यास सन् 1996 में प्रकाशित हुआ। 'पंचनामा' सभ्यता के विकास के दौर में पीछे छूट गये परिवार के एक अनाथ बना दिए गए किशोर की कथा है। अनाथों की स्मृतिहीन दुनिया होती है। वहाँ माँ-बाप, परिवार, गुजरे हुए बुजुर्गों के अनुभव का निचोड़ और उनकी परम्परा की स्मृति नहीं होती। ऐसे बच्चे स्मृतिहीन, इतिहासविहीन समाजों की तरह होते हैं। उनके पास कुरूप वर्तमान से लड़ने के लिए अतीत का संवेग नहीं होता। इस तरह आम मनुष्यों की तरह वे त्रिआयामी नहीं द्विआयामी होकर रह जाते हैं। ऐसे बच्चों की जिन्दगी का इतना सा ही इतिवृत्त होता है। उपन्यास का नायक 'पंचम' कहता है कि— "मैं अनाथालय में पला-बढ़ा हूँ। मेरा कोई सगा-संबंधी है नहीं, सो अपना पेट पालने को, अपना कल सँवारने को मुझे आज कमाना भी है, पढ़ना भी है। जब कोई है ही नहीं तब पत्र आएगा कहाँ से। जब मुझे खबर ही नहीं, मैं कौन हूँ, कहाँ का हूँ, तब कोई संस्मरण होगा कैसे ? जो हैं भी वे मुझ जैसे अनाथ बच्चों के नीरस

जीवन के बयान हैं। उनकी छोटी-छोटी महत्वाकांक्षाएँ, उनकी ना-कुछ-सी शरारतें, उनके भारी-भरकम भय, उनकी याचक आँखों का स्वप्न, उनकी भूखी आंतों का कंपन ही मेरी स्मृतियाँ हैं..... उन्हें जानने, उन्हें सुनने में किसी को रुचि हो नहीं सकती, सो मैं मौन न रहूँ तो क्या करूँ ?”²⁰

अनाथ होने का एक अर्थ अनाम होना भी है। वंश-वृक्ष से टूट एक पत्ता, जहाँ उड़कर चला जाए, वहीं का नाम धारण करता है। इसीलिए इस उपन्यास के नायक के तीन नाम हैं – पंचम, अकलंक और आनंद। ‘पंचनामा’ सिर्फ अनाथों की जिन्दगी का बयान बनकर नहीं रह जाता बल्कि उस अस्वस्थ धार्मिक समाज का भी ब्योरा है जो रहम, दया के बल पर परलोक सुधारना चाहता है। यहाँ सवाल उठता है कि क्या इन बच्चों को सिर्फ दया या सहानुभूति चाहिए ? कृपा के तहत स्वामी भाव छिपा होता है जो दासों के जमाने से चला आ रहा है। इन मूल्यों की जगह स्नेह, आत्मीयता, बंधुत्व और ममत्व कब लेंगे ? इसीलिए तीसरे दौर का नायक आनन्द कहता है – “आप मुझे अब भी गलत समझती हैं, पर दयावश मुझे क्षमा करना चाहती हैं। सोचती हैं इससे मुझे सुख पहुँचेगा मेरे दुःख कम होंगे। आप मेरी नज़रों में महान हो जाएँगी। पर कभी आपने यह भी सोचा कि मैं अनाथ हूँ तो इसमें मेरा अपना क्या दोष है ? मैं क्यों किसी की सहानुभूति का पात्र बनूँ ? यह अपराध तो मेरे माता-पिता का है कि वे मेरी परवरिश करने का जिम्मा लेकर मुझे इस दुनिया में लाए और फिर वायदा खिलाफी करके दुनिया छोड़ भागे। मैं कोई अपराध करूँ तब न आप मुझे क्षमा करेंगी....”²¹

अकलंक को आश्रम में दाखिला दिलवाने के लिए उसके मामा को झूठ बोलना पड़ता है कि उसका कोई नहीं है, वह उन्हें एक मेले में मिला था। क्योंकि आश्रम के कायदे-कानूनों के अनुसार उस बच्चे को आश्रम में दाखिला नहीं मिल सकता, जिसके माता-पिता या सगे-सम्बन्धी जिंदा हों। अकलंक के लिए यह

दुनिया बिल्कुल नई है मगर हाहाकार से भरी हुई। अनाथालय में आकर अकलंक को एक तरफ उत्तम जैसे मददगार लड़के मिलते हैं तो दूसरी तरफ सतीश और राजेन्द्र जैसे बच्चे भी, जो अधीक्षक और अन्य अधिकारियों के साथ मिलकर बाकी बच्चों को अपना बँधुआ मजदूर समझते हैं। उन्हें खाने को पूरा नहीं मिलता, कपड़े छीन लिये जाते हैं। दानी लोगों द्वारा दी गई चीजों पर अधिकारियों के साथ मिलकर चील की तरह झपटते हैं। आश्रम के लड़के अकलंक को बताते हैं कि आश्रम में आए प्रायः हर लड़के को कभी न कभी किसी का 'गिलमा' बनना पड़ता है। लड़के ग्लानि, भय, असुरक्षा के चलते किसी से शिकायत नहीं करते। अकलंक प्रकरण में बेईमान छात्रावास अधीक्षक, संस्था के दंभी मंत्री से लेकर लंपट छात्रों तथा कमसिन छात्रों को हमबिस्तर बनाने वाले यौन-पिपासु शिक्षक तक मिलते हैं।

लेकिन जहाँ-जहाँ अँधेरा हो, वहाँ किसी कोने से रोशनी की किरण भी फूटती है। अकलंक को भी गोयल गुरुजी ऐसे ही प्रकाश की तरह मिलते हैं। वह उसका अच्छी पुस्तकों एवं पुस्तकालय से परिचय कराते हैं। दूसरे महावीर गुरु हैं, जो गलत काम करने पर आश्रम के लड़कों को चुन-चुनकर सजा देते हैं, जिससे कि वे बिगड़ें नहीं। वह खुद आश्रम में रह चुके हैं। साथ ही वहाँ 'रेणुका दी' दूसरी किरण हैं, जो बच्चों के जीवन में आशा लाती हैं।

सनाथ होते हुए भी अनाथ हो जाने की परिणति व्यापारिक, पूँजीवादी मूल्य प्रणाली के चलते है। इसका करुण प्रसंग तब दिखता है। जब पंचम उर्फ अकलंक उर्फ आनंदवर्धन घर वापस लौटने की मनाही के बावजूद अपने माँ-बाप से मिलने उनके गाँव जा पहुँचता है। गाँव वाले और परिवार के भी अधिकांश लोग यही जानते हैं कि वह हॉस्टल में रहता है। पंचम के अनाथालय में रहने की बात उसकी माँ तक नहीं जानती। भ्रम यह फैलाया गया कि खेत बेचकर उसके हॉस्टल का खर्च अदा किया जा रहा है। पंचम समझ जाता है — यहाँ सबको

अपनी—अपनी पड़ी है। जिस दरिया से प्यास बुझने की उम्मीद थी, वहीं से एक कतरा भी न मिला। “चल खुसरो घर आपने”..... वह खिन्न हो वापस अनाथालय में लौट आता है। और फिर घर नहीं जाता ।

आखिरी अध्याय सुखांतिका का चरण है। जयपुर का अनाथालय बाल—आश्रम बन जाता है। निहित स्वार्थों का शिकंजा इस आश्रम से हट जाता है। आश्रम आदर्श, आधुनिक ढंग से चलाया जा रहा है। आश्रम के आदर्श प्रधानमंत्री विनय तक निस्संतान हैं। क्योंकि वे आश्रम के बच्चों को ही अपनी संतति समझते हैं। यहीं आनंदवर्धन को अपनी भावी पत्नी तक मिल जाती है। विनय के बिछुड़े माता—पिता तक मिल जाते हैं। इस अध्याय में आदर्श, उपलब्धि और सुखांत का विशद विवरण है। उपन्यास एक ‘पॉजिटिव नोट’ पर खत्म होता है। अकलंक जैसे बच्चे जिनके लिए न जाने कितनी संस्थाएँ बनायी जाती हैं कितनी ग्रांट मिलती है और कितना दान, लेकिन वास्तव में उन तक पहुँचता कितना है।

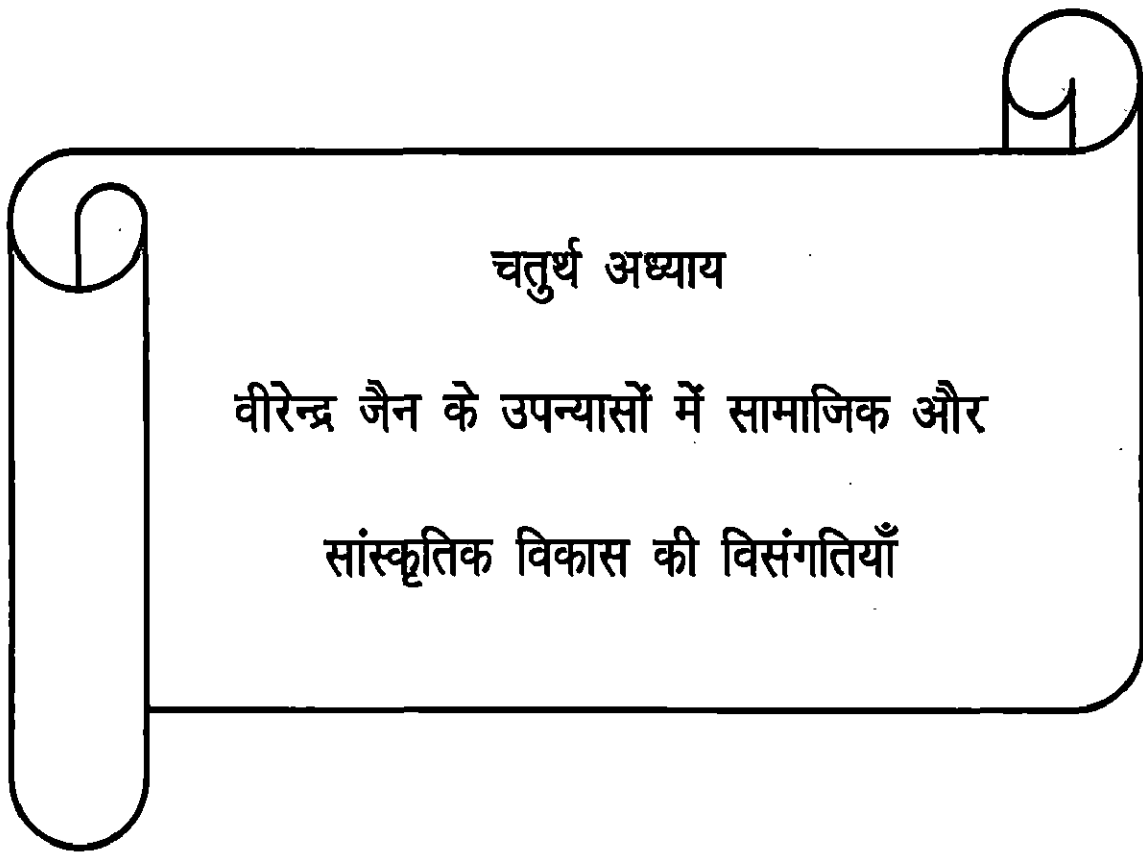
अनाथत्व पर एकाग्र इस उपन्यास में लेखक ने हमारे समाज के इस हाशियाकृत यथार्थ को बेहद बेबाकी से लिखा है। यह उपन्यास हमारी सरकार की उस व्यवस्था पर भी चोट करता है। जो संविधान में बेसिक शिक्षा के निःशुल्क होने की तो बात करती है, लेकिन आजादी के साठ साल बाद भी आज तक गाँव में स्कूल और शिक्षक तक उपलब्ध नहीं करा पाई। आज हम चाहे जितना मानवतावाद का ढोल पीटें, बाल मजदूरी के खिलाफ चाहे जितने कानून बना दें, लेकिन जब तक जो समाज एक बच्चे को त्याज्य समझता है, स्त्री के सारे औचित्य को यौन—शुचिता के आधार पर नकारा जाता है ये स्थितियाँ नहीं बदलतीं, बच्चे अनाथ बनते ही रहेंगे।

वीरेन्द्र जैन समकालीन हिन्दी उपन्यास के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनके उपन्यासों में वे सभी ज्वलन्त समस्याएँ उभरकर सामने आई हैं जिनको देश,

समाज और संस्कृति झेल रहे हैं। उनका सृजक व्यक्तित्व किसी वैचारिक ढाँचे में बँधने को बाध्य नहीं दिखता। वे मूलतः पत्रकार हैं पत्रकार की नज़र वस्तुस्थिति को अलग ढंग से परखती है और सामने रख देती है। वह कोई मूल्य निर्णय दें यह जरूरी नहीं है उसके द्वारा रचित खबर पाठक के मस्तिष्क के मूल्य निर्णयों का सृजन करती है। यही वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों की स्थिति है इसी में वे मूल्यवान भी हैं।

सन्दर्भ

1. वीरेन्द्र जैन, सुरेखा पर्व, (पहला सप्तक), पृ० 85
2. वही, पृ० 85—86
3. वही, पृ० 86
4. वीरेन्द्र जैन, अनातीत, (पहला सप्तक), पृ० 14
5. वीरेन्द्र जैन, शब्द—बध, पृ० 55
6. वही, पृ० 71
7. वही, पृ० 85
8. वही, पृ० 136
9. वीरेन्द्र जैन, सबसे बड़ा सिपहिया, पृ० 24
10. वही, पृ० 54
11. वही, पृ० 55
12. वही, पृ० 25
13. वीरेन्द्र जैन, तलाश, (पहला सप्तक), पृ० 263
14. वही, पृ० 271
15. वीरेन्द्र जैन, डूब, पृ० 59
16. वही, पृ० 181
17. वही, पृ० 215
18. वीरेन्द्र जैन, पार, पृ० 51
19. वही, पृ० 30
20. वीरेन्द्र जैन, पंचनामा, पृ० 248
21. वही, पृ० 252—53



चतुर्थ अध्याय

वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में सामाजिक और
सांस्कृतिक विकास की विसंगतियाँ

वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के विकास की विसंगतियों के सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष को मजबूती से उठाया है। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र वे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो देश के सामाजिक स्वास्थ्य में निर्माणकारी होते हैं। इस क्षेत्र में आई गड़बड़ियाँ न केवल सामाजिक समस्याओं की कारक होती हैं बल्कि कई बार विकास के रास्ते में बाधा बनकर खड़ी हो जाती हैं। यदि किसी देश के विकास को देखना है तो देश के सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप में ही देखा जा सकता है।

आधुनिक भारतीय सामाजिक चेतना के विकास में अन्तर्निहित विसंगतियों के फलस्वरूप सांस्कृतिक चेतना का विकास भी विसंगतिपूर्ण रहा। वैज्ञानिक पद्धतियों के विकास, पश्चिमीकृत जीवन पद्धति, लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने सोच-विचार के परम्परागत तरीके में परिवर्तन किये। लेकिन ये परिवर्तन धार्मिक, सांस्कृतिक अतार्किकता से पूरी तरह निजात नहीं दिला पाये, इनका एक ऐसा घालमेल तैयार हुआ कि वैज्ञानिक का दर्जा पाने वाला भी व्यक्तिगत जीवन में इनका शिकार दिखाई दिया। 'ग्राम्शी' ने 'बौद्धिक स्थितियों' के चिन्तन में ग्रामीण वर्ग के कारीगर, शिल्पी तक को बौद्धिक प्रक्रिया का हिस्सा माना और कहा कि इनकी जीवन के प्रति सोच वैज्ञानिक और बौद्धिक है। भारतीय ग्रामीण संरचना में तमाम ऐसी स्थितियों का विकास पाते हैं जो कि इस बौद्धिक वर्ग पर अन्धविश्वास का मुलम्मा चढ़ाती जाती है। वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण समुदाय की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को बार-बार दिखाने की कोशिश की है।

4.1 सामाजिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप :—

‘डूब’ उपन्यास के पूर्वार्द्ध यानि ‘पहली डूबकी’ में लेखक ने आज़ादी के बाद जनजीवन में व्याप्त विकृत व्यवस्था को चित्रित किया है। इस ‘डूब’ को लेखक ने सतह के नीचे नाम दिया है, क्योंकि विकृत व्यवस्था भी तो बाढ़ ही है जो विशाल जनजीवन की ज़िन्दगी को धीरे-धीरे अपने में ज़ब्त कर रही है। देश आज़ाद हुआ तो लगा कि विकृत व्यवस्था की बाढ़ थमेगी और उसमें डूबती ज़िन्दगियाँ राहत की सांस लेंगी किन्तु कुल मिलाकर वह चारों ओर से पिसती ही चली गयीं।

रचनाकार ने ग्रामीण जीवन की हर विसंगति को खोजने तथा उसकी भर्त्सना करने में रुचि ली है। साथ ही लेखक ने अट्टू साव के माध्यम से गाँव में नयी चेतना और प्रकाश को फैलते हुए भी दिखाया है। भोपाल में रहकर डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे अट्टू साव आज़ादी का महत्व समझते हैं —मुक्ति। साहूकारों, जमींदारों से मुक्ति। सामंती शोषण के सभी तरीकों का अट्टू साव न केवल विरोध करता है, बल्कि भूमिहीन मजदूरों को भी बेगारी न करने एवं जमींदारों के अत्याचार का प्रतिकार करने को भी प्रोत्साहित करता है —“अब इस देश में न कोई ऊँची जाति का है न नीची जाति का। बिरादरियाँ समाप्त। सब एक बराबर हैं अब। सबको पढ़ने का हक। सबको वोट देने का हक। सबको एक ही अस्पताल से दवा-दारु पाने का हक। सबको मन्दिर जाने का हक। सबको एक ही कुँए से पानी लेने का हक।”¹ उपन्यास का मुख्य पात्र रामदुलारे भी गाँव में जनजागरण का मंत्र फूँकता है— “मैं तो इसी से कहूँगा कि बुरी नीयत से उठे किसी हाथ को आज के बाद अपने गाल तक न पहुँचने दे। चाहे वह हाथ किसी लाट का ही क्यों न हो।”²

पिछड़े समाजों में आंतरिकीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से शासक वर्ग अपनी सत्ता बनाये रखता है। जिसमें शासकों के सुख-दुख को शासित वर्ग अपना सुख-दुख समझने लगता है। इस प्रक्रिया की झलक उपन्यास में कई जगह बिखरी दिखायी देती है। लेकिन लेखक क्षितिज पर उभरते नए यथार्थ से अपरिचित भी नहीं है। शायद इसलिए एक स्थान पर लेखक हस्तक्षेप करते हुए कहता है कि— “और यह इंतजारी भी फिजूल है कि अभी इन चमारों में से कोई एक उठकर पाँवों से पाँच कदम दूर जमीन पर लोटकर यह कहेगा कि घूमा नादान है, बालक है, इसे कोई ऊपरी हवा लग गई है सो इसकी बात का बुरा न मानने की कृपा करना। हम तो आज भी आपकी प्रजा हैं, आप ही हमारे राजा हैं। जो हुकुम होगा बजा लाएँगे, जो इनायत होगी झोली पसारकर कुबूलेंगे। भूखे रहेंगे तो भी आपके गुण गाएँगे, भूखे मरेंगे तो भी आपका जश बढ़ाएँगे।”³ उत्तरी भारत के ज्यादातर गाँवों में शासित व दलित वर्ग के लिए यह एक सनातन धर्म के रूप में आज भी मौजूद है। कृषि समाज में उत्पादन के साधनों के आधुनिकीकरण के बावजूद आंतरिकीकरण की संस्कृति टूटी नहीं है। भारत के कुछ क्षेत्रों में इस संस्कृति को जबरदस्त चुनौती मिल रही है। लेकिन लेखक ने मध्य भारत की ज़मीनी हकीकत को ध्यान में रखा है। किसी कृत्रिम कार्रवाई को लड़ेई के पात्रों पर लादा नहीं है।

औद्योगिकीकरण की दृष्टि से इस इलाके को बंजर कहा जा सकता है। ग्वालियर में जरूर औद्योगिकीकरण के द्वीप देखे जा सकते हैं लेकिन शेष इलाके का ज्यादातर हिस्सा आज भी उन्नीसवीं सदी में जीता है। सघनता व गहनता के साथ हस्तक्षेप करने में आधुनिक रफ्तार के साधन नाकाम से रहे हैं। यही वजह है कि ठाकुर देवीसिंह, रघु साव, बड़े साव, मोती साव, वामन महाराज जैसे लोगों के

उत्पीड़न, शोषण और आतंक की व्यवस्था किसी निर्णायक चुनौती का अनुभव नहीं करती, और जो चुनौती देने की कोशिश भी करते हैं उन्हें या तो पलायन करना पड़ता है या आत्मसमर्पण या फिर माते के समान जी मसोसकर रह जाना पड़ता है जब घूमा अपने लहलुहान भाई को लेकर ठाकुर के अत्याचार के खिलाफ गुहार लगाता है तब सामंती मानवता के प्रतीक माते लाचार दिखायी देते हैं। उनके मरणासन्न भाई को देखने के बावजूद सवर्णकाया में जीवित लडैई में कोई हरकत नहीं होती। क्योंकि ठाकुर उसका ही तो एक हिस्सा है। चाहे निचली मानवता की बस्ती चमरौटे में आग ही क्यों न लग जाए ? उसके तमाम इंसानों के जिस्म पर ठाकुर की तलवार के जख्म क्यों न हों, कोई कुछ नहीं बोलेगा। इस इलाके की चारित्रिक विशेषता रही है, यह।

गाँधीजी के अछूत-उद्धार आन्दोलन एवं सरकार द्वारा हरिजनों के साथ भेदभाव नहीं करने के कानून के बन जाने के बाद भी हमें गाँव में अस्पृश्यता का दौर दिखायी देता है। घूमा के भाई बसोरे के सिर से खून बह रहा है। वह मझले साव की खाट पर अपने भाई को लिटाकर उसके उपचार की व्यवस्था कर रहा था। लेकिन मझले साव आते ही भड़क उठते हैं और पट्टी बाँधने की ड़िबिया को फेंककर चीख पड़ते हैं— “उठा अपने भाई को। तेरी इतनी हिम्मत कि हमारी खाट पर चल उठा और ले जा अपने टपरे में।”⁴ देश में अस्पृश्यता निवारण कानून लागू है। उसका पालन उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग इसी रूप में कर रहा है यह सवाल है, विसंगति है, सामाजिक विकास की। यही नहीं सामाजिक सुधार के तमाम कानूनों को शक्तिशाली ढंग से लागू करने के लिये उच्च अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। लेकिन फिर भी लागू नहीं हो सके हैं। लागू होते हैं तो उनका अधिकतर दुरुपयोग होता है।

लड़ैई के आस-पास के इलाके में औरत-बिक्री आम बात है। भीतरी क्षेत्रों की स्थिति औरत के लिए तो बेहद भयावह है। यह एक ऐसी हाड़मांस की वस्तु है जिसे पलंग पर सुलाया भी जा सकता है और जरूरत पड़ने पर जूती बनाकर पहना भी जा सकता है। समाज की तलछट जातियों के स्त्री वर्ग की हालत तो और भी दर्दनाक है। एक अघोषित ग्राम-वधु की पदवी निचली व मझोली जातियों की औरतों को दे दी जाती है। उनका अबाध उपभोग करना सवर्ण अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानता है। तब भला गोराबाई कैसे अपवाद रह सकती है ? चूँकि गोराबाई लुहारिन है इसलिए उसे सवर्ण समाज के अपमानों का सामना करना ही पड़ेगा। उसके बेटे रामदुलारे को भी, जो उसका बेटा नहीं है पर उसे वह पालती है। पुजारी महाराज के लड़के कैलाश के कुकृत्य को अपने आँचल से ढकती है, उसमें पवित्रता बोती है जो कि बढ़कर रामदुलारे बनता है। इसलिए उपन्यास के अन्त में माते परदा उठाते हुए कहते हैं—“वह (रामदुलारे) ब्राह्मण के वीर्य से जनमा, अहीरन ने उसको सेया, लुहारिन ने दूध पिलाया, सलैया ने अपनी बाखर में शरण दी, बानिया ने उसकी परवरिश की और अब ठकुराइन ने उसे ठाकुर चुना। अब बता, वह है कौन जात का ? बता कि इसमें से कौन जात के नहीं हुए तेरे-मेरे भगवान।”⁵ सामंती संस्कारों की पवित्रता या अपवित्रता और स्त्री-उत्पीड़न आज भी इस इलाके की खासियत बने हुए हैं। ‘डूब’ में ये सवाल स्वाभाविक और शक्तिशाली ढंग से उभरे हैं।

साम्प्रदायिकता जब अपना नंगा खेल खेलती है तो वह क्रूर और अमानुषिक हो जाती है। इस क्रूरता के पीछे कौन सी मानसिकता काम करती है। इसका उल्लेख लेखक ने इस प्रकार किया है— “लेकिन धर्म की रक्षा का सवाल ठहरा। धर्म में तर्क का क्या काम ? पुण्य कमाने के हर युग के अपने अवसर होते हैं।

महाभारत काल में भगवान श्रीकृष्ण ने तो यहाँ तक कहा था कि धर्म की खातिर सगे भाई को मारना भी पाप नहीं है। फिर इस कलयुग में विधर्मी को मारना अवश्य पुण्य कमाना ही कहलाएगा।”⁶

लेखक ने अधकचरी शिक्षा, जो अधिकतर ग्रामीण समाज में निम्न मध्यम वर्ग का यथार्थ बन चुकी है, का आज के सामाजिक सन्दर्भ में निरूपण किया है। कैलाश महाराज के सन्दर्भ में लेखक कहते हैं — “हाँ, सचमुच अधूरी शिक्षा का कुफल है ये। अब ये अधपढ़े वही तो करेंगे जो सीख पाए हैं। बन्दर के हाथ उस्तरा आएगा तो वह अपना गाल ही तो काटेगा न। अच्छे भाग्य होते तो शिक्षा का माहात्म्य समझते।”⁷

मास्साब ने माते से कहा, कि ‘माते एक बुरी खबर है’ मास्साव के मुँह से बोल फूटा कि सब के कान खड़े हो गए— “अब हम तुम्हारे पड़पोते को, अपने सच्चे शिष्य अनेक सिंह के बच्चे को तालीम नहीं दे पाएँगे।”

“काहे ?” एक साथ अनेक कंठों ने जानना चाहा।

“सरकार यहाँ से मदरसा उठा रही है।”

“काहे ? क्या मौँढ़ी-मौँढ़ा कम हैं मदरसा में ?”

‘हाँ’ हमने सुना है कि बच्चे कम हों तो सरकार मदरसा बंद कर देती है।”⁸

स्वाधीनता के बाद की दुर्दशा का चित्रण करते-करते उपन्यासकार 1975 की मनहूस घड़ी को पार करता है। हीरा साव ने मनमाने ढंग से भोले-भाले ग्रामीणों को ठगकर जो जमीनें हथिया ली थीं उस पर सरकारी ठप्पा लगवाने के लिए वह तहसीलदार को रिश्वत देना चाहता है। लेकिन तहसीलदार इस काम में

रिश्तत न लेकर उसे चंदेरी तक कुछ लोगों को लाने का हुक्म देता है। उसका मानना है कि इसी बहाने लोगों की जबरन नसबंदी हो जाएगी और उसका कोटा पूरा हो जाने पर उसे सरकार की तरफ से तोहफे भी मिलेंगे।

सरकार के परिवार-नियोजन कार्यक्रम के खोखलेपन एवं विद्रूपता को लेखक ने भारतीय गाँव के सन्दर्भ में दिखाया है। आपातकाल के बाद, देश की बढ़ती जनसंख्या से परेशान सरकार परिवार-नियोजन कार्यक्रम द्वारा देश का विकास करना चाहती है ताकि लोगों को खाद्यान्न एवं आवास आदि की समस्या का सामना न करना पड़े। कार्यक्रम की सफलता के लिए गाँव-गाँव में अभियान चलाये जाते हैं लेकिन जिस तरह से इसे निपटाया जाता है, वह आम आदमी को स्तब्ध कर देने वाला है। हीरा साव एवं निर्मल साव जिस प्रकार जालसाजी से गाँव वालों की जबरन नसबंदी कराते हैं वह हमारी सरकार की विकास योजनाओं की पोल खोल देती है— “अरे, जनखा बनवाने ले गए थे तो वही करवाते न केवल। बधिया मानुष भी होता तो मानुष ही है न। वही नस कटवाते फिर। पर तुमने तो लगता है इनकी जीवन-नस ही कटवा दी है। हमारे बचुआ अनेका को मिलाकर पूरे सात बधिया भगवान को प्यारे हो चुके हैं अब तक। अक्कल समेत सात रांडे रात-दिन तुमरा नाम जप रही हैं हीरा साव।

करमगति टारे नहीं टरी।

किसके करम और किसकी गति ?

माते के लेखे भगवान का हिसाब भी गड़बड़ा गया है। करम सरकार के, साव के और दुर्गति इन बेजुबानों की।”⁹

माते का यह कथन सरकारी कार्यक्रम की निशुंसता को हमारे सामने उजागर कर देता है। विकास के हाशिए पर कर दिए गए लोगों के साथ सरकार की इस अनीति पर माते व्यंग्य करते हैं —“जाओ, अपने-अपने घर जाओ। जाकर बताओ अपनी-अपनी बैयरवानी को कि सरकार ने तुमरे नाम जमीन का पट्टा लिखा है या तुमरे घरु हल की मूठ मरोड़ दी है। जाओ, जाओ यहाँ से ! हमरे कान तो बहुत पक्के हैं। ये नहीं फटेंगे तुमरी बैयरो की चीख-पुकार सुनकर। उनका विलाप सुनकर, कि उनका उलाहना सुनकर। जाओ, जाओ यहाँ से। हमें तो अब जब जीना है तब तक जननी माताओं के कंठ से यही सुनना बदा है कि सरकार ने उनकी उपजाऊ जमीन ऊसर कर दी है !”¹⁰

पश्चिमी देशों की तर्ज पर भारतीय सरकार यह मानने लगी कि उसके कम विकास का कारण जनसंख्या वृद्धि है। लेकिन भारतीय गाँवों में आज भी बच्चे के जन्म को बोझ नहीं माना जाता। यहाँ तो हर काया दो मेहनतकश हाथ होती है जो खुद फोड़ती है अपने हाथों जमीन को, तब पाती है पेट की खातिर अन्न का दाना और सरकार उसी हाथ को काट देना चाहती है। जिस क्षेत्र के लोगों को सरकार ने मृत समझकर उसके विकास के सारे रास्ते बंद कर दिए, उसी से वह विकास के आँकड़ों की पूर्ति क्यों चाहती है ? माते यहाँ प्रश्न करते हैं —“तुमने पूछा नहीं सरकार से कि जब वो हमें पालती-पोसती नहीं, हमरी परवरिश में उसका हाथ ही नहीं, हमरी बदहाली से उसे कोई दुख-तकलीफ ही नहीं, तो हमरी आबादी बढ़े या घटे, उसके प्रान क्यों सूखते हैं ?”¹¹

इस प्रकार बरस-दर-बरस बीतते गए। बाँध का काम कछुए से भी धीमी गति से रूक-रूककर चलता रहा। इस दौरान न तो गाँव में विकास कार्य की सुविधा उपलब्ध होती है और न ही उन्हें शीघ्र विस्थापित कर कहीं बसाया जाता

है। सैकड़ों गाँवों की जिन्दगी स्थगित है। मानो वे जीते हुए भी निर्जीव हैं। लडैईवासियों की हालत तो और भी खराब है। सरकार पहले उसे डूब क्षेत्र घोषित कर चुकी थी लेकिन अब वह डूब क्षेत्र में नहीं आ रहा है। इसी कारण वहाँ के लोगों को न ही मुआवजा मिल पाता है और न ही सरकार उसकी बदहाली पर ध्यान ही दे पा रही है। इस विकट स्थिति में लडैईवासियों के घर-द्वार खण्डहर होने की तैयारी में हैं —“वैसे अब बाखर ससुरी है किसकी सही—सलामत ? जिस बाखर की ओर टकटकी लगाकर देखो वही ढ़ह पड़ने को तैयार ! अब किसे बचा है चाव मरम्मत का, रखरखाव का! जाने कब तो खाली कर जाना होगा गाँव।”¹²

कुछ सरकारी अफसरों और दलालों के बीच ऐसी साँठ-गाँठ रहती है कि साधारण व्यक्ति किसी भी काम को आसानी से नहीं करा पाता। उसे बिचौलियों का सहारा लेना ही पड़ता है। इस स्थिति का चित्रण इस प्रकार हुआ है —“साव लोगों के जाने के बाद कई लोगों ने कोशिश की बिना घूस दिए, कि बिना साव की बही में नया अँगूठा निशानी उतरवाए पा जाएँ मुआवजा। मगर ऐसी अनहोनी सचमुच सम्भव नहीं थी। अक्बल तो एल0ओ0ओ0 के दफ्तर में बाबू तो बाबू चपरासी तक ऐसे पेश आता था जैसे उसके सामने कोई शाह नहीं चोर आ खड़ा हुआ हो ! जैसे देश के विकास के लिए अपना सब—कुछ देने वाला देशप्रेमी नहीं—कोई देशद्रोही आन पहुँचा हो ! जैसे अपनी जमीन की सही कीमत लगाने का अनुरोध करने या जो सरकार ने तय कर दी है, मन मारकर वही कीमत पाने की तमन्ना लेकर आने वाला कोई लाचार, बेबस, ठगा गया भोलाभाला किसान नहीं— भिखारी आ खड़ा हुआ हो !”¹³

जिस लडैई की जनता ने कभी बाढ़ के दर्शन नहीं किए थे, जहाँ के लोगों को साल-दो-साल में सिर्फ सूखे का सामना करना पड़ता था उसी लडैई को अब

प्रत्येक साल बाढ़ की विभीषिका का सामना करना पड़ता है। और यह सब होता है बाँध वालों द्वारा बाँध पर टीला बनाने से। नदी के तल को ऊँचा उठाने के लिए सरकार मिट्टी के टीले को बार—बार वहाने का उपक्रम करती है। उसे तो सिर्फ इस बात से मतलब है कि नदी का पाट ऊँचा हो जाए चाहे इसके लिए लडैई जैसे कितने गाँवों को डूबना क्यों न पड़े। सरकार की इस अमानवीयतापूर्ण कार्रवाई की झलक हमें विभिन्न बाँध योजनाओं में दिखायी पड़ती है। चाहे वह 'सरदार सरोवर बाँध' का मामला हो या भागीरथी नदी पर बनाया जा रहा 'टिहरी बाँध'। सभी जगह हमें मानवीय अस्तित्व की यही त्रासदी दिखायी देती है, लोगों को जबरन अपने घर, जमीन से विस्थापित होने के लिए विवश किया जाता है और दर—दर की ठोकरें ही उनकी किस्मत में आती हैं।

'पार' उपन्यास में 'वीरेन्द्र जैन' ने आदिवासी तथा ग्रामीण जीवन के सम्बन्धों में आए बिखराव व तनाव को अपनी आंचलित भाषा के खुरदरे शिल्प के माध्यम से व्यक्त किया है। कथावस्तु का समीकरण स्वातंत्र्योत्तर भारत का सच है। आज़ादी के बाद विकास की अपनायी गयी नीतियों के कारण सामाजिक संरचना का असंतुलित विकास हुआ। इसी असंतुलित विकास की पीड़ा का मर्मस्पर्शी दस्तावेज है 'पार'।

इस उपन्यास के केन्द्र में लडैई गाँव तथा जीरोन खेरे के आपसी सम्बन्धों को अभिव्यक्ति मिली है। लडैई गाँव के लोग जीरोन के राउतनों से कीमती जंगली औषधियाँ तो ग्रहण करते हैं परन्तु बदले में दिये जाने वाले सामान का उन राउतन की आकांक्षा और इच्छा से कोई सरोकार नहीं रह जाता है। फिर उसी से जीवन की नैया को पार लगाने के लिए अभिशप्त है आदिवासी समाज। राजघाट पर बँधे बाँध के कारण आस—पास का डाँग रीत जाता है। फलस्वरूप गाँव वाले

आदिवासियों के डाँग से अपनी जरूरतों को पूरा करने का प्रयास करते हैं। जीरोन खेरे का मुखिया इसे दो स्तरों पर सहन करता है—एक तो अपनी सामर्थ्य शक्ति की कमी के कारण और दूसरी अपनी अतिशय भलमानसी के कारण। मुखिया का कथन स्पष्ट करता है कि बाँध बनाने से ग्रामीण समाज ही अव्यवस्थित नहीं हो रहा है अपितु आदिवासी जीरोन खेरा चाहकर भी उसकी चपेट से बच नहीं पायेगा। मुखिया कहता है— “जब गुरीला से सिद्धनपुर तक की डांग रीत जाएगी, तब यहीं तो आएँगे। ढोर चरने आएँगे। लोग जलावन बटोरने, रूख काटने आएँगे। हम मुकावला कर सकेंगे उनका ? किस हक से करेंगे ? जैसी डाँग हमरी, वैसी उनकी। जैसे हमें जीना है, उन्हें भी जीना है।”¹⁴ यानि विकास का प्रपंच होने के बावजूद गाँव और खेरा जीने की ही समस्या से जूझता है ‘पार’ इस अन्तर्वेदना को गहराई तक जाकर खींच लाने में सफल हुआ है।

गाँव और खेरा दोनों ही जगह विकास की अधकचरी योजनाओं के कारण स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों के बीच का गैप बढ़ा ही है। गाँव में वामन कैलाश महाराज तथा अक्कल फूआ का सम्बन्ध हो या चमेली उर्फ गोराबाई तथा अट्टू साव का सम्बन्ध हो, दोनों के बीच दरार कायम है कारण चाहे जो हो, पर इतना तो सत्य है कि वामन कैलाश महाराज अपनी जातिगत उच्चता के अहं के कारण ही अबोध अक्कल के साथ बलात्कार करते हैं। और ऐसे लोगों को भरपूर संरक्षण ही प्रदान नहीं करतीं ये नीतियाँ, वरन् इन नीतियों के गाँव में दलाल बन जाते हैं। इनका विश्वास जमता जाता है कि ग्राम से लेकर शहर तक उनके सम्बन्ध हैं और अगर कोई न आया तो भगवान की सेवकाई से तो अवश्य कुछ मदद मिलेगी। इन सबका कोप सहने के लिए अभिशप्त है पिछड़े ग्रामीण समाज की अक्कल जैसी स्त्री। “उस दिन के बाद कभी मंदिर की देहरी पर पाँव नहीं रखा अक्कल ने।

बिन माँगे जहाँ से लांछन मिला, अधर्म मिला, अन्याय मिला, मरण के आसार मिले, उस देहरी पर, अदेहधारी उस निर्बल, अबला के अहितू, सबल के शरणदाता से फिर क्या माँगने, क्या मेंटने, क्या भेंटने जाती अक्कल।”¹⁵

आदिवासियों पर कहर बरपाने का एक कारण यह भी है कि ये नंग-धड़ंग घूमते हैं। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण देखिए — “बदन पर केवल लिंग ढाँपने के लिए एक चमड़ी बाँधे किसी राउत को देखा कि ऐसे खदेड़ते हैं गाँव वाले, जैसे खेत में सियार की घुसपैठ पर उसे खदेड़ा जाता है।”¹⁶

नदी घाटी परियोजना के कारण गाँव और शहर की दूरियाँ कम हुईं। इन्हीं परियोजनाओं के कारण निर्मल साव राशन की बिक्री का ठेका लेता है। इस सिलसिले में वह शहर से कई चलने वाली तरकीबें लाता है गाँव में। आदिवासी समुदाय में, नारी बिना किसी भेद-भाव, रोक-टोक के मंद बयार की भाँति निर्बाध डोलती फिरती है यही कारण है कि किशोर-किशोरियों की मिली-जुली टोलियों में वह अनजाने ही परियोजनाओं व नीतियों के दलाल निर्मल साव जैसे लोगों के यहाँ सरल रूप से पहुँच जाती हैं, उसे कभी प्रलोभन, कभी धोखा, कभी पैसे के बल पर, कभी केवल शक्ति प्रयोग से नयी व्यवस्था में भरमा लिया जाता है। परिणामस्वरूप गिरिवनबालाएँ नदीघाटी योजनाओं में कार्यरत श्रमिक, तकनीशियन, छोटे-छोटे अधिकारी, व्यापारी अथवा साहब लोगों की पर्यकशायिनी बन जाती हैं। इस सम्बन्ध में ‘ब्रह्मदेव शर्मा’ का कथन है— “दो समूहों के परस्पर सम्बन्धों के सन्दर्भ में कम से कम प्रारम्भिक अवस्था में संभवतः एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती प्रतीत होती है, जहाँ हमारी इस नयी व्यवस्था में हमारे आदिवासी पुरुषों के लिए कोई स्थान ही न हो। वस्तुतः वह तो एक अकुशल कर्मी है, जो नयी व्यवस्था के अधोस्तर में ही स्थान पाने योग्य है। हाँ, औद्योगिक व्यवस्था में आदिवासी स्त्रियों

को अलबत्ता विनिमेय के रूप में कुछ 'उपहार' मिल सकता है। परन्तु क्या यह गहिर्त तर्क तीव्र परिवर्तन के लिए नियोजित समूह—गतिशीलता में एक वांछनीय तत्व के रूप में स्वीकार्य हो सकता है ? इसका स्पष्ट उत्तर है : नहीं।”¹⁷

कभी—कभी तो मीठी गोलियाँ, साबुन की टिकिया, पाउडर का डिब्बा आदि इन मासूम किशोरियों को फाँसने के लिए पर्याप्त होते हैं। ये लड़कियाँ, जिनका अपने समाज में ऊँचा स्थान है इस नयी व्यवस्था में आती तो हैं पर इसकी त्रासदी का पता उन्हें तब चलता है जब उसके साथ का पुरुष उसे छोड़ जाता है। 'पार' में इसकी मर्मस्पर्शी चर्चा की है लेखक ने — “राउतों को जड़ी—बूटियाँ मँहगे दामों में खरीदने का प्रलोभन देकर डाँग में भटकने को भेजने लगा। उनके जाते ही टपरा में बैठकर राउतनों को बहलाता—फुसलाता। नित नई चीजें भेंट करता। ऐसी चीजें जो अजूबा लगें। मन मोह लें। टिकिया, बिंदिया, ऐना, कंधी, बिछिया, पायल, चोली, चोटी, घाघरा, फरिया, पोलका, सुपारी, चूड़ियाँ। बच्चों को फूँकना, गोलियाँ, कंचे, बाजे, खिलौने दोनों हाथों से बाँटने लगा।”¹⁸

यानि घूरे साव के इस भ्रमजाल में आसानी से आती गयीं जीरोन खेरे की राउतनें और घूरे साव शहर के अन्य दलालों के साथ इनका व्यापार करता रहा। इस प्रकार सामाजिक विकास की विसंगतियों का ही परिणाम यह होता है कि राजनीति तथा प्रशासन के कर्ता—धर्ता समाज के मसीहा होने का दावा तो करते हैं, पर सच्चाई इससे परे है— “तहसीलदार ने कहा था— जनानियों की खरीद—फरोख्त से हमें क्या लेना देना। हाँ, जमीनों की खरीद—फरोख्त का मसला हो तो हम हाथ पकड़ें, कि थामें।”¹⁹ समाज में फैलने वाली किसी भी प्रकार की गड़बड़ी का दायित्व इन्हीं लोगों पर है। परन्तु इन लोगों का चरित्र भी बदला हुआ है। उपन्यास यही दिखाने का प्रयत्न करता है कि जब तक विकास के लिए अपनायी जाने वाली नीतियों का यहाँ के जन—जीवन से सीधा सम्बन्ध स्थापित

नहीं होगा, तब तक संतुलित विकास की कामना कल्पना से परे की बात होगी। यानि विकास का असंतुलन समाज के मूल्यों व आदर्शों को दरकिनार करेगा। मानवीयता नाम की कोई चीज न रह जायेगी। घूरे साव इन तमाम सम्बन्धों को महत्व नहीं देता है। संतुलित विकास का अर्थ होता—निर्मल साव जैसे लोगों से गाँव की शांति। वामन कैलाश महाराज की बदमिजाजी की खबर ली जाती, 'पार' का विषय नदी घाटी योजनाओं के कारण घोषित डूब क्षेत्र की समस्या है। जंगल की चीजों का संग्रह धीरे-धीरे घट रहा है। जो आदिवासी समाज अभी तक जंगल की वस्तुओं से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता था अब वह निर्मल साव के बहकावे में आकर शहर की ओर आकर्षित होता है। वही आकर्षण उनके जीवन का विकर्षण भी बनता है।

स्त्रियाँ ही नहीं आदिवासी पुरुष भी निर्मल साव के चंगुल से बच न पाये और चंद टुच्ची सुविधाओं के लालच में अपना सर्वनाश करवा बैठे। विकास के ये असंगत तरीके गाँव में निर्मल साव द्वारा भेजता है, तहसीलदार। तहसीलदार सरकार का आदमी है। सरकार आबादी रोकना चाहती है। तहसीलदार घूरे साव को बदले में किरासन, शक्कर का कोटा—परमिट दिलवाने का वायदा कर जीरोन खेरे के आदिवासियों को बुलाने भेजता है— “इस काम को अंजाम देने के लिए गाँवों से मर्दों को लाने का काम हमने आपके गाँव के सेठ हीरालाल को सौंपा है। आपका खेरों में, राउतों में आना—जाना है। सो खेरों से मर्दों को लाना आपकी जिम्मेदारी रही। बदले में सरकार आपको प्रति मर्द कुछ नगद रकम इनाम में देगी। हम अपनी तरफ से आपको आपके क्षेत्र के तमाम गाँवों का किरासिन, शक्कर का कोटा—परमिट दिलवाएँगे। मर्दों को कब लाएँगे, कैसे लाएँगे, यह आपको तय करना है। तय करके हमारे दफ्तर में खबर दे देना। हम बाकी सारा इंतजाम कर लेंगे।”²⁰

यह समाज के असंतुलन का परिणाम है कि इन बेचारे आदिवासियों को इस बात की भनक नहीं चलती है कि आखिर शहर वे किसलिए जा रहे हैं। यह रहस्य कुछ दिनों के बाद खुलता है। 'पार' में इस पीड़ा को व्यक्त कर विकास के उपकरणों पर प्रश्नचिह्न लगा देता है लेखक।

'पंचनामा' उपन्यास अनाथाश्रम की व्यवस्था का पंचनामा है जहाँ एक बच्चे को कदम-कदम पर अनंत यातनाएँ और जोखिमें झेलनी पड़ती हैं। अनाथाश्रम क्या है पूरा कारागार है जहाँ प्रबंधन से लेकर शिक्षकों, छात्रों तक सब में भ्रष्टाचार व्याप्त है। छात्रावास अधीक्षक की भ्रष्टता का एक उदाहरण दृष्टव्य है — "विनय ने बताया हमारे एक अधीक्षक ने लड़कों के लिए पैंटों का जो कपड़ा आया था, उसमें से कुछ कपड़ा बचाकर अपने बच्चों की पैंटे सिलवा दीं। शेष कपड़े से आश्रम के लड़कों की। जाहिर है सबकी पैंटे छोटी बनीं। लड़कों ने अधीक्षक से शिकायत की। अधीक्षक ने शर्मिंदा होने के बजाय लड़कों को बुरा-भला कहना शुरू कर दिया। बात-बेबात उन्हें दंडित करने के बहाने ढूँढने लगा। यही नहीं, वह लड़कों के लिए आने वाली प्रायः सभी चीजों में से आधी से ज्यादा चीजें अपने परिवार के लिए हड़पने लगा।"²¹

भ्रष्टाचार की जड़ें इतनी गहरी बैठ चुकी हैं कि सामाजिक कल्याण और सामाजिक उत्थान के तमाम कार्यक्रमों को दीमक की तरह चाटे जा रही हैं। बाल मजदूरी एक अपराध है। सरकारी कागजों में यह अपराध हो नहीं सकता इसलिए इसके लिये भी नये-नये रास्ते यह कार्य तंत्र खोज लेता है मसलन—"ओह ! मैं तुम्हें बताना भूल गया। दरअसल तुम 18 साल के नहीं हो न। तुम्हें नौकरी पर नहीं रखा जा सकता। सेठ जी ने कहा था कि तुम्हारा नाम न लिखकर कोई और नाम रजिस्टर में लिखा जाए। ये देखो..... मैनेजर ने एक नाम पर उँगली रखकर

कहा, यहाँ रजिस्टर में तुम्हारा यह नाम है। इसी के आगे दस्तखत करो..... मैनेजर की हथेली हटने पर अकलंक ने देखा, वहाँ लिखा था— विनायक कुमार।”²²

‘पंचनामा’ उपन्यास में अकलंक और विनय का सारा संघर्ष यही है कि उन्हें या किसी भी अनाथ को दूसरे सनाथ दया का पात्र न समझें। अकलंक का भीतरी और बाहरी दोहरा संघर्ष इसी ‘दया’ और ‘करुणा’ के विरुद्ध है। अपने स्वाभिमान की खातिर वह किसी से भी टकरा जाता है। नितांत हमदर्द अधीक्षिकाजी से अकलंक की भिड़ंत इसी बिन्दु पर होती है। अधीक्षिका की दया अकलंक को अवांछित लगती है। वह कहता है —“..... अनाथ हो..... यही नइसीलिए आपको मुझ बेचारे पर तरस आ गया। आप यकायक उदार हो गईं। चूँकि मैं अनाथ हूँ इसलिए यदि मेरा व्यवहार आपको नागवार भी गुजरे तो आप उसे नजरंदाज कर देंगी..... क्योंकि आप समर्थ हैं..... दयावान हैं ! वह नहीं हैं जो मैं हूँ.... ! ऐसा करना बढ़प्पन की निशानी है।”²³

अकलंक आगे कहता है — “हमें सहानुभूति नहीं चाहिए। उसका तो हमारे पास इतना भंडार है कि अब अपच होने लगी है। आए दिन होने वाले इन सहानुभूति प्रकरणों से हमें जितना मानसिक आघात मिलता है उतना तो उस स्थिति में भी न मिलता जब हमारे तन पर कपड़ा और पेट में रोटी का टुकड़ा नहीं होता। अगर आप दाता बनना ही चाहती हैं तो हमें अपना स्नेह दीजिए, प्यार दीजिए, आत्मीयता दीजिए, ममत्व दीजिए। यही वह पूँजी है जिसे समाज और दुनिया के ठेकेदार अपनी-अपनी जिद में हमसे छीन चुके हैं।”²⁴

सामाजिक विकास की जो लहर चली उसमें बहुत कुछ ऐसा बह गया जिसे नहीं बहना चाहिए था। भावनाओं, संवेगों, रिश्तों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। अकलंक के भीतर इसकी गहरी टीस है। यह टीस धीरे-धीरे आक्रोश का रूप

लेती जाती है। अकलंक की टीस उसके इस कथन में दिखाई देती है जिसमें वह सेठ घड़ीवाला और बीमा कम्पनी के गोरखधन्धे और मौका परस्ती पर तीखी टिप्पणी करता है। अकलंक ने कहा— “ठग कहीं का। अब अपने को सब पता चल चुका है। नई—नई बीमा कम्पनी से एक दुकान का बीमा करवाया था। माल गायब करके वहाँ कूड़ा—कबाड़ भरा था और खुद ही आग लगा दी थी। बीमा कम्पनी को अपनी साख बनानी थी सो बिना ज्यादा जाँच—पड़ताल के पूरी रकम थमा दी। बीमा कम्पनी ने सोचा होगा, चलो प्रचार तो होगा। जो लोग हकीकत जानते होंगे वे ललचाएँगे। अभी साख जमने दो। फिर सख्ती बरतना शुरू करेंगे।”²⁵

हर साल दीपावली के दिन मंदिर में चढ़ाने के लिए निर्वाण लाडू बनाए जाते हैं। लेकिन हर साल की तरह इस साल आश्रम के लड़कों को मन्दिर में चढ़ाने के लिए लाडू नहीं दिए गए। अनाथ आश्रम के अधीक्षक राय बहादुर का आदेश है — लड़कों को मुफ्त में बाँटकर लाडू बर्बाद न किए जाएं। बाहर से आने वाले भक्तगणों को सब लाडू बेच दिए जायें। राय बहादुर के न चाहने के बावजूद लड़कों ने चुराकर लाडू चढ़ाये। इसी बीच फूलचन्द्र नाम का लड़का चोरी करते पकड़ा जाता है। राय बहादुर उसे तुरन्त आश्रम से निकाल देने का आदेश देते हैं अकलंक उत्तेजित होकर रायबहादुर से कहता है — “मैं पूछता हूँ आप यह क्यों नहीं सुनना चाहेंगे कि इसने चोरी क्यों की ? यह लड़का जब इस आश्रम में आया तब भी चोर था क्या ? यह कुल दो साल का था जब यहाँ लाया गया था। इस चारदीवारी में रहते यदि यह चोर बना तो कुसूर किसका है ? ऐसे हालात क्यों पैदा किए गए कि इसकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची। इसे चोरी पर बाध्य होना पड़ा। यह आश्रम चोर—उच्चक्के तैयार करने का कारखाना नहीं है। यदि आप

इसे वह मानते हों तब कोई बात नहीं। तब तो यहाँ आगे भी चोर बदमाश तैयार होते रहेंगे और यहाँ से निकलकर वे समाज में आपका, इस संस्था का, अपना खूब नाम रोशन करेंगे...।”²⁶

‘सबसे बड़ा सिपहिया’ उपन्यास में आनंद नामक एक पत्रकार अपने घर में चोरी हो जाने की रिपोर्ट लिखाने थाने जाता है। पुलिस उसकी सहायता करने के बजाय उसे परेशान और जलील करती है। एक आम आदमी के साथ पुलिस का व्यवहार किस तरह का है यह ‘डी०ओ०’ (ड्यूटी ऑफीसर) के इस कथन से स्पष्ट है — “ये चिकनी-चुपड़ी बातें करके चूतिया बनइयो किसी और को। हमारा तो उठना-बैठना, हगना-मूतना ही तेरे जैसों में होता है। पुलिस महकमे के मुलाजिम हैं, कोई घसियारे नहीं हैं। हमें पता है कि तेरे घर में चोरी हुई है ... या किसी की उधारी चुकाने से मुकरने को तूने ये बहाना गढ़ा है या अपनी घरवाली की गैर हाजिरी में किसी रंडी से आशनाई करके उस पर गहना-जेवर लुटा आया हैतू तो बस चुपचाप बैठा रह।”²⁷

इसके साथ ही एक गुंडे शराबी द्वारा सताई गई युवती भी रिपोर्ट लिखाने आती है। उसके साथ भी पुलिस का व्यवहार असंतोषजनक दिखायी देता है। युवती की घबराहट का आनंद लेते हुए डी०ओ० बोले, “आज के बाद वह हरामजादा तुम्हें तंग नहीं कर पाएगा। मैं आज रात को दो सिपाही तुम्हारे घर पहरे पर बैठा दूँगा। तुम चादर ओढ़कर सोने का नाटक करना। जब वह शराबी आए और छेड़छाड़ करे तो तुम चुप रहना। हमारे सिपाही वहाँ होंगे ही; कोई ऊँच-नीच होने से पहले ही वे उसे रँगें हाथों पकड़कर हवालात में बंद कर देंगे। और हाँ, तुम किसी से भी इसकी चर्चा मत करना, वरना वो हरामजादा, बदजात सावधान हो जाएगा और तुम्हारी थू-थू होगी सो अलग।”²⁸

आनंद के घर में जिस चोर ने चोरी की थी उसके बजाय दूसरे आदमी को चोर बनाकर पेश किया जाता है। आनन्द के दिमाग में सवाल उभरता है कि मैं थाने में आया किस लिए था ? इसलिए न कि हमारे यहाँ से चोर-उचक्कों को पुलिस भगा दे या इसलिए कि पुलिस एक नया चोर पैदा कर दे ? वह सोचने लगा— “अगर पुलिस ने इसे चोर प्रमाणित कर दिया तो वह अभी चोरी के जुर्म में कुछ महीने की हवालात की सैर पर भेज दिया जायेगा और उस सैर के बाद जब बाहर निकलेगा तब वास्तव में चोर बन चुका होगा। और इस तरह सरासर मेरे ही कारण एक चोर तैयार हो जाएगा।”²⁹

शब्द—बध उपन्यास में नीलाभजी न्यास के बारे में आनंदवर्धन को बताते हैं कि यह न्यास बचे धन को खपाने और टैक्स बचाने के लिए बनाये जाते हैं— “अब समझ लीजिए कि मैंने रूपया आपको न देकर अपने न्यास को दान कर दिया। तब दस लाख पर मैं टैक्स देने से बचा। फिर बाकी टैक्स की रकम में से दस लाख दान दिखाया सो वह भी बचा। अब चूँकि न्यास मेरा ही है। मैंने न्यास से कहा कि वह दस लाख रूपया तुम्हें दे दे। उसने दे दिया। न्यास पर चूँकि कोई टैक्स नहीं लगता सो आपको पूरा रूपया मिल गया। आपने अपने कागजों में दिखा दिया कि दस लाख न्यास से लिया। बदले में दो-तीन प्रतिशत ब्याज देते रहे। उस ब्याज से न्यास का खर्च चल गया। फिर आगे भी जब कभी मेरी ज्यादा आमंदनी हुई मैंने न्यास को दान कर दिया। आपने भी किया। इस तरह यह पैसा हमारा न रहकर न्यास का हो गया। न्यास से ब्याज पर लेकर हम काम चलाते रहे। चूँकि न्यास भी तो आखिर हमारा ही है। सरकार मुँह देखती रही। तो देखा आपने, हुई न न्यास से आय ?”³⁰

आर्थिक विकास की नीतियाँ पूँजीपति और संस्थानों की पक्षधर हैं इनमें व्यक्ति खासकर श्रमिक का कोई मूल्य नहीं है या कहें लगातार अवमूल्यन हो रहा है। यह अवमूल्यन उसके व्यक्तित्व में दिखाई देता है। कई बार वैचारिक संरचना में भी दिखाई देता है। श्रमिक के मन में असंतोष इसकी अवश्यंभावी परिणति है। उपन्यासकार ने इस स्थिति को प्रकाशन उद्योग के जरिये दिखाया है उसमें काम करने वाली लड़की शांता, आनन्द को बताती है कि इस दफ्तर में लड़कियों की संख्या ज्यादा इसलिए है—“क्योंकि हम सचमुच कम मूल्य पर उपलब्ध होती हैं। शादी-ब्याह होते ही नौ-दो ग्यारह हो जाती हैं जो कम्पनी के हित में ही जाता है। न ग्रेच्युटी, न दुगुना फंड, न अधिक वेतन वृद्धियाँ।”³¹

उपन्यासकार यह मानता है कि लेखक भी एक श्रमिक है वह इस तरह के उद्योग (प्रकाशन) में भेंट चढ़ रहा है इस सम्बन्ध में प्रभाजी अपने पति (लेखक) के बारे में आनंद को बताती हैं कि—“इनके एकदम बाद की पीढ़ी के कितने तो लेखक, बुद्धिजीवी हैं जिन्होंने अपने समय में तहलका मचा दिया था। पूरे देश की आँखें उन पर केन्द्रित थीं कि ठीक तभी कोई सम्पादक, कोई संचालक, कोई मंत्री, कोई संयोजक बना और वही बनकर रह गया। अपनी प्रतिभा, अपनी शक्ति, अपनी सोच, अपना सर्वस्व उसी में खपा दिया।”³²

आनंदवर्धन एक बड़े लेखक अरिहंतजी के निजी प्रकाशन संस्थान में उनकी रचनात्मक त्रासदी देखता है, जहाँ प्रकाशक के रूप में अरिहंतजी का बेटा उनकी किताब का संस्करण छापने को तैयार नहीं है लेकिन दूसरे लेखक के घटिया उपन्यास को पैसे लेकर प्रकाशित कर रहा है। आनंद, अरिहंतजी के बेटे दीपक को समझाते हुए कहता है कि—“आप उनके बेटे हैं। ऐसी स्थिति में वे आपके रहते बाहर के किसी प्रकाशक को पुस्तक नहीं दे सकते कि लोग क्या कहेंगे ? आपको

दुख पहुँचेगा तब। और आप हैं कि उन पर, उनकी कलम पर विश्वास तक नहीं रखते ? उनके मुकाबले एक नासमझ, बेवकूफ लेखक को तरजीह दे रहे हैं चूँकि वह आपको चंद रूपए दे रहा है ? क्या अरिहंत ने आपको इतना भी कमाकर नहीं दिया ? दो लाख का व्यवसाय क्या आप अपने दम पर कर ले पा रहे हैं ?”³³

प्रतिबद्ध प्रकाशन की संचालक श्रीमती कांताकौर विभिन्न विश्वविद्यालयों में घूस देकर अपने संस्थान द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को पाठ्यक्रम में लगवाती हैं। इस काम के लिए कांताजी आनंद को एक विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष के पास भेजती हैं वहाँ विभागाध्यक्ष आनंद से कहता है—“भई, वर्मा को लिखा था न मैंने कि इस बार कुछ ज्यादा रकम लगेगी। बी०ए० के लिए तीन किताबों तक आठ और एम०ए० के लिए प्रति किताब एक—एक।”³⁴ आनंद दूसरे दिन फिर से विश्वविद्यालय पहुँचता है, तो ऐसा लगता रहा जैसे किसी जिन्स की आढ़त में, नीलामी में आ पहुँचा है। पूरे दिन किताबों की बोलियाँ लगती रहीं। जैसे आढ़तिए चिल्ला रहे हों— “रेणु, यशपाल, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, मोहन, सोहन, राही, बेराही, भ्रमर, मक्खियाँ, पतंगे, तिलचट्टे— सबके नामों की बोलियाँ लग रही थीं। विद्यार्थी क्या पढ़ें यह विद्वान नहीं आढ़तिए तय कर रहे थे। विद्यार्थियों को क्या पढ़ना होगा यह प्रकाशक का प्रतिनिधि अपने बक्शे में बन्द नोटों के बण्डल गिनकर तय कर रहा था।”³⁵

आज़ादी की लड़ाई भले ही राजनीतिक लड़ाई थी लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक सुधार बहुत बड़ा मुद्दा था। उन्नीसवीं सदी का इतिहास राजनीतिक से अधिक सामाजिक विकास और सुधारों का इतिहास है। आज़ाद भारत में परम्परा से प्राप्त उन संकल्पों को लागू करने की कटिबद्धता दिखाई गई। जातिप्रथा, छुआछूत, गैरबराबरी, हिंसा, सामाजिक अन्याय, सामाजिक बहिष्कार और

तमाम तरह की क्रूरताएँ समाज में कम होने के बजाय बदलकर जटिल से जटिल हो गईं। सामाजिक न्याय के लिए जिस आरक्षण की प्रणाली का सहारा लिया गया उसने जातिगत विद्वेष को और अधिक बढ़ावा दिया। समाज सुधार के लिए तमाम तरह के सरकारी कार्यक्रमों को तैयार किया गया लेकिन उनके क्रियान्वयन ने शोषितों के हितों को हड़पने की परम्परा को ही आगे बढ़ाया। शोषितों की हित रक्षा के कानून कहीं न कहीं दुरुपयोग के शिकार हुए। यह आज़ाद भारत की बड़ी सामाजिक विसंगति रही है।

वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में इस बात को हर तरह से उठाया गया कि चाहे दलितों, शोषितों का उत्पीड़न हो अथवा स्त्रियों के प्रति अत्याचार, समाज के छोटे से बड़े सभी स्तरों पर बदस्तूर जारी है उनको उखाड़ने के सरकारी कार्यक्रम इसलिए असफल रहे क्योंकि वास्तव में उनके पीछे ऐसी मंशा ही नहीं है कि इन्हें समाप्त होना चाहिए। इनके साथ राजनीतिक क्रिया-कलापों को जोड़ दिया गया है। इससे इनका उपचार बड़ा कठिन लगता है।

4.2 सांस्कृतिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप :-

भारतीय ग्रा मीण समुदाय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं का वाहक है पर यह वर्ग अन्धविश्वास के घेरे से ऐसे घिरा है कि किसी भी घटना का सम्बन्ध दैवी शक्ति से जोड़ देता है। भारत के गाँवों में इस तरह का अन्धविश्वास ज्यादा देखने को मिलता है। 'डूब' उपन्यास में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है— "एक रोज गाँव वालों ने देखा कि पहाड़ से थोड़ा हटकर जो बरगद का पुराना पेड़ है, उसके नीचे एक पत्थर काला नहीं, गेरुआ—सा है। उसके पास ही अगरबत्ती जल रही है। फिर जाने किसने, किसे, कब, जागते में या कि सपने में बताया कि वह पत्थर नहीं, साक्षात् पथरा बब्बा हैं। वहाँ से आने—जाने वाले हर राहगीर की रक्षा करने का वचन दिया है उन्होंने, बदले में वे बब्बा इतना— भर चाहते हैं कि हर आने—जाने वाला उनके थान (स्थान) पर नारियल की जगह एक पथरा चढ़ा दिया करे। जो ऐसा नहीं करेगा, उस पर कोई भी दैवी संकट आ सकता है।"³⁶

एक और उदाहरण दृष्टव्य है —"कहते हैं, पहले—पहल जो लोग इस रास्ते से आते—जाते थे, उनकी काँखरी में या कंधे पर एक हथौड़ा भी रहता था। यहाँ पहुँचने पर उन्हें पहले किसी भी बड़े पत्थर को तोड़कर उसके कई टुकड़े करने होते थे। फिर उन टुकड़ों में से एक टुकड़ा वे पथरा बब्बा को चढ़ाते थे, सिर नवाते थे और अपना हथौड़ा पथरा बब्बा के संरक्षण में छोड़कर आगे चले जाते थे। वापसी में अगर कोई टुकड़ा नहीं दीखा तो पथरा बब्बा से, वही हथौड़ा जो बब्बा ने पूरी हिफाजत से रखा होता था, माँगकर फिर किसी पत्थर को तोड़कर एक टुकड़ा पथरा बब्बा को अर्पण कर घर आते थे।"³⁷

लेखक ने लोक देवता पथरा बब्बा के साथ—साथ अन्धविश्वासों व कुसंस्कारों से ग्रस्त बिन्दुओं का भी कई पात्रों के माध्यम से चित्रण किया है। किस

तरह धार्मिक ठप्पा कायम रहे, इसके लिए छोटी-छोटी भूलों को बड़ी गलतियों का रूप देकर धन्ना सेठ आतंक फैलाते हैं — यह इन संवादों से भली-भाँति जाना जा सकता है — “मोती ! सिल को हाथ न लगाना!” अचानक बड़े साव दहाड़े।

“क्यों ?”

“इसलिए, क्योंकि तुमने कुदेव की पूजा की है।” ...“हमने तो यह तय किया है कि अब हम तुम्हें दिगंबर जैन नहीं मानेंगे। तुम दिगंबर आमनाय की विधि-विधान से देवाराधना नहीं कर सकते। हमने तुम्हारे लिए दूसरे दालान में एक वेदी रख दी है, सो तुम उसमें वस्त्र पहनाकर प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर लो और जैसे चाहो उसकी पूजा-अर्चना करो।”³⁸

‘डूब’ उपन्यास में ग्रहदशा के नाम पर, व्रत-उपवास के नाम पर, बीमारियों के नाम पर, जंतर-मंतर के नाम पर, शकुन-अपशकुन के नाम पर, भूत-प्रेत के नाम पर तथा देवी-देवताओं के बारे में कई अन्धविश्वासों की चर्चा हुई है। इस संदर्भ में निम्न उदाहरण दृष्टव्य हैं —

- (i) “उस बीज को बोने के बाद अच्छी फसल हुई तो मोती साव के जस में दो चाँद और टँक जाते हैं, और अगर फसल पहले जैसी या उससे भी कम हो तो अपने भाग्य को कोसता हुआ किसान जा पहुँचता है वामन महाराज के चरणों में, ग्रहदशा सुधरवाने।”³⁹
- (ii) “पार्वती ने शंकर भगवान को पाने के लिए तपस्या की थी न, सो तभी से कुँवारी कन्याएँ उम्दावर पाने को उपवास रखती आई हैं।”⁴⁰
- (iii) “अब यही कि नौरता, कुम्हार बब्बा के भैरों देवता भरने वाली बात, बैलों को रोग-रुगेलू से बचाने का नून चटाने वाला दिन, यशोदा मैया का घाट

पूजने वाला दिन। लाला, तुम्हें कुँवारी कन्याओं के त्यौहार तो याद रहे, पर व्याहता बैयरबानी के तीज-त्यौहार याद नहीं आए। पेंड़ भरने वाली बात—जब बच्चे को छोटी माता निकलती है तो उनकी मतारी कैसे जमीन पर लोटती-लोटती घर से मंदिर तक जाती है, ढोल-बाजे के साथ।”⁴¹

- (iv) “आज देखता हूँ कौन करता है हत्या। ब्रह्महत्या होती है कि शील-हत्या। अरी ब्राह्मण का शाप, ब्राह्मण का जाप, ब्राह्मण का जंतर, ब्राह्मण का मंतरतू तो कुछ भी नहीं जानती। एक ही जंतर से तुझे वश में न किया तो मेरा नाम कैलाश नहीं, घूरा रख दीजो।”⁴²
- (v) “ऐसी अफरा-तफरी मची कि गोराबाई की मुढ़ी से गागर गिर-गिर पड़ने को हुई। मगर नहीं। गागर को सँभालना गोराबाई का पहला धरम। कहीं गागर फूट गई, कहीं मोटर में बैठते-बैठते ठकुराइन मास्टरनी की निगाह रीती गागर पर पड़ी तो अशगुन न हो जाएगा।”⁴³
- (vi) “तब भी ऐसेई नहीं उतर आए हम। पहले जानकारों ने आकर यहाँ की भूमि देखी। यहाँ आकर बामन महाराज ने हवन किया। बानियों ने पूजा की। यहाँ बसे भूत-व्यंतरों से, देवी-देवताओं से प्रार्थना की कि हे देवताओं, आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। आप जानते हो, कि हमें जीवन बचाने का कोई और उपाय नहीं सूझ रहा। सो अब हमें लाचार होकर यहाँ बसना होगा। हमरी आपसे प्रार्थना है कि आप हमें यहाँ बसने की इजाजत दो। इस स्थान को हमरी खातिर खाली कर दो, ताकि हम निडर होकर यहाँ बस सकें.....।”⁴⁴

निर्मल साव अपने पिता के इकलौते बेटे हैं। उनके बाद जितने भी बच्चे हुए, पैदा होते ही चल बसे। इन्हें बचाने के लिए इनके पिता ने वह सब कुछ

किया जो लोगों ने बताया। आखिर किसी की सलाह मानकर उन्होंने इस शिशु को (निर्मल साव को) गोद में उठाकर घूरा देवता के पास ले जाकर हाथ जोड़कर विनती की—“हे घूरा देवता, हम अपनी औलाद तुम्हें दान करते हैं। आप इसे स्वीकार करो और इसके पालन-पोषण की इजाजत हमें दे दो ! इतना कहने के बाद दो टोकरी मैला घूरे पर पटका और निर्मल साव को वापस उनकी मैया के पास लाकर लिटा दिया। बोले, अगर यह जी गया तो यह घूरा देवता की कृपा होगी। यह उनकी अमानत है हमारे लिए। सो आज से इसका नाम बजेगा—घूरेलाल।”⁴⁵

भारतीय समाज आरम्भ से लेकर वर्तमान तक जातिगत कोटरों में बँटा हुआ है। विशेषाधिकार की रक्षा का यह प्रयास मूलतः सामन्तीय चिन्तन की देन है। निम्न वर्ग शोषण का माध्यम तो बनता ही है, साथ ही निम्न जाति का होने के कारण उच्च वर्गों द्वारा घृणा का पात्र भी होता है। समाज में उच्च वर्ग का विशेष स्थान होने के कारण निम्न वर्ग सदा भयभीत रहता है और उच्च वर्ग की गलतियों को जानकर भी उनके खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं कर पाता। ‘डूब’ में निम्नवर्ग का पात्र ‘घूमा’ इसी चिन्ता में है कि—“अब क्या सोचकर ढाढस बँधाए ? यह तो और भी खतरनाक स्थिति बन आई। अगर सचमुच ठाकुर बागी बन गए तो ? या गाँव ही लौट आए तो ? है किसी में हिम्मत जो उनकी तरफ आँख भी उठा पाए ? भले ही सरकार ने इनाम..... फिर अब तो ठाकुर के लठैत भी गाँव में मौजूद हैं। अब तो समझो पूरी बिरादरी की खैर नहीं ! अब तो इस गाँव से भाग जाने में ही जान की खैर है।”⁴⁶ निम्न वर्ग के लोगों के विरोध के प्रयास नगण्य हैं; विरोध शुरू होते ही या तो ये टूट जाते हैं या ठाकुरों के कोप से बचने के लिए कहीं भाग जाते हैं।

भारतीय मानस में जातिगत चेतना की जड़ें बहुत गहरी जमीं हुई हैं; जिनके चलते मनुष्य—मनुष्य में अन्तर किया जाने लगा। अपनी जाति को श्रेष्ठ और निम्न समझी जाने वाली जाति को हीन समझने की प्रवृत्ति बलवती होती चली गई। इसी जातीय चेतना की कट्टरता के कारण ही आज भी एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न समझा जाता है। ‘डूब’ में —“मास्साव के चबूतरे के आस—पास सब के सब अपनी—अपनी समाजी प्रतिष्ठा के अनुसार बैठ गए। बामन, बानिया और हलकाई ठाकुर चबूतरे पर। अहीर, सलैया, लुहार कुछ नीचे चबूतरे पर। उनसे कमतर लोग जमीन पर, और उनसे भी कमतर आँके जाने वाले अनथक मेहनतकश मगर समाजी विभाजन के अनुसार नीच कर्म के कर्ताधर्ता जमीन पर फैला—बिखरा कूड़ा—करकट एक जगह समेटकर उस पर बैठ गए। अवसर चाहे खुशी का हो या गमी का, अपनी श्रेणी को याद न रखना गुनाह जो है।”⁴⁷

यह औपनिवेशिक शासनतंत्र रोम—रोम से अनैतिक है। परम्परागत चोर—डाकुओं का भी एक ईमान होता था। झाँसी जब अँग्रेजों के कब्जे में आ गई तब फिरंगियों से लड़ने वाले और झाँसी की रानी का साथ देने वाले सभी लोगों ने झाँसी छोड़ दी। वे ही लडैए, लडैई गाँव में आ बसे। तब से डाकू भी उस गाँव के लोगों को सताना पाप समझते हैं— “और हमीं को क्यों, आस—पास के गाँव—खेरे तक के लोगों में वह इस गहराई से क्यों बैठा हुआ है कि वे हमें देखकर आज भी श्रद्धा से सिर नवाते हैं। हमें अतिरिक्त सम्मान देने को उतावले रहते हैं ! डाकू तक हमारे गाँव के लोगों को सताना पाप समझते हैं ! इसीलिए न कि हमारे पूर्वजों ने जो देश के लिए अपना सब—कुछ न्यौछावर करके उन पर एक ऋण चढ़ाया है, हमें सम्मान देकर उससे वे उऋण होना चाहते हैं।”⁴⁸ पर वर्तमान शासन तंत्र उस गाँव को हर तरह से बर्बाद करने में ही बहादुरी मानता है। ‘माते और मास्साव’ की मुख्य चिंता यही है कि यह शासनतंत्र अनैतिक है, कृतघ्न है,

उसका सम्मान भी नहीं करता, उनका एहसान भी नहीं मानता। उन्हें अपनी ही शर्तों पर, अपनी ही अनैतिक और स्वैराचारी रीति से चंद रूपये देकर समझता है कि हमने माल खरीद लिया, अब उस पर हमारा हक है। फिरंगियों के देशवासियों के लिए गाँव की जमीन और सम्पदा, अधिकार और जीवन रूप, सभी कुछ केवल खरीद-फरोख्त की चीजें हैं।

लेखक ने परिच्छेद नौ में बहुत सरल ढंग से बारहमासा, मौसम, तीज-त्यौहार, उपवास, व्रत आदि की चर्चा की है—“आषाढ़ में किसान खेत में बखर, खाद और पाटा का काम निबटाते हैं। पानी बरसने पर मक्का, उड़द, रमतिली, फिकार, कोदों, मूँग, धान, ज्वार की बुवाई, गुड़ाई और बिराउनी करते हैं।..... श्रावण में श्रावणी तीज, नागपंचमी, रक्षाबंधन और हल छठी। इस दिन औरतें हल का जुता अन्न नहीं खातीं। पसाई के चावल खाती हैं या फलफलारी। फिर आती है भुजरियाँ नवें — इस दिन पूजा के लिए बोया गेहूँ एक-दूसरे को देते-लेते हैं। अच्छी फसल की कामना करते हैं।”⁴⁹

भारतीय संस्कृति में दो तरह के तत्त्व विद्यमान हैं। एक वे तत्त्व हैं जो कि सांस्कृतिक इतिहास को अपने भीतर समेटे हुए हैं, देखने में काफी कुछ अतार्किक से दिखने वाले ये तत्त्व एक परम्परा के रूप में चले आते हैं। दूसरे तत्त्व वे हैं जिन्हें सांस्कृतिक विभ्रम पैदा करने के लिए इस समुदाय का एक विशिष्ट वर्ग रचता रहता है। ये दूसरे वाले तत्त्व अधिक खतरनाक हैं और विसंगति के प्रमुख कारण हैं। ‘मार्क्स’ ने संस्कृति के विकास में, ‘प्रभुत्व की संस्कृति’ और ‘शोषितों की संस्कृति’ को अलग-अलग हिस्सों में रखा है। एक संस्कृति दूसरे के लिए हितकर नहीं है। हालांकि पूँजीवाद की परिवर्तित स्थितियों ने यह साबित किया है कि ‘गरीबी की संस्कृति’ को भी बाज़ार अपने हित में इस्तेमाल कर सकता है।

‘पार’ के लोगों की अपनी संस्कृति रही है जिसे जनजातीय और सरल समाज की संस्कृति कह सकते हैं। पहाड़ के लोगों की अपनी संस्कृति को लेकर तमाम शोध कार्य हुए हैं और दुनिया भर में बसे हुए इस तरह के लोगों की सांस्कृतिक स्थितियों को लेकर विवाद भी हुए हैं। लेकिन एक बात तय है कि जटिल समाजों की प्रभुत्ववान संस्कृति, बाज़ार की संस्कृति के हस्तक्षेप से सांस्कृतिक विसंगतियों ने यहाँ जन्म लिया है, धर्म के मामले में, विश्वासों के मामले में या फिर जीवन-व्यवहार के मामले में ये लोग अविश्वास, अस्थिरता, असमंजस और कई बार असंतोष के शिकार दिखाई देते हैं। इस तरह की सांस्कृतिक स्थितियाँ किसी भी समाज को वह साहस और धैर्य नहीं प्रदान कर सकतीं। ऐसे में इन समाजों के नष्ट हो जाने, दूसरे समाजों में विलीन हो जाने या फिर कायान्तरित हो जाने की सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। ‘पार’ उपन्यास समाज तथा संस्कृति के गहरे अन्तः सम्बन्धों को उद्घाटित करता है। लडैई गाँव तथा जीरोन खेरे के लोगों का रहन-सहन, खान-पान, चाल-चलन, रीति-रिवाज आदि उपन्यास के केन्द्र में है। ग्रामीण समाज तथा आदिवासी समाज दोनों अपने आपको बदल रहे हैं, पर इनके बदलने के साथ-साथ इनके रीति-रिवाज एवं विश्वास-अंधविश्वास उस गति से बदलते नहीं देखे गये हैं।

लडैई गाँव का समाज वर्णाश्रम के अमानुषिक दंश को तोड़ नहीं पाया है। यह समाज कोढ़रूपी वर्णाश्रम को परिधान के समान अपने तन से लपेटे रहता है। जबकि विकास का सही माइने होता है अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों से आम जनता की मुक्ति— “किसान का काम है खेती करना। बानिया का सौदा-पटा करना। ठाकुर का हिफाजत करना। सलैया का तेल-घानी बनाना। लुहार का लोहा-लंगड़ा बनाना। बड़ई का हल-खाट बनाना। कुम्हार का बर्तन-भांडे बनाना। काछी का

भाजी—तरकारी उगाना। खबास का दाढ़ी—बाल बनाना, बामन का देवता की पूजा—अर्चना करना। सबके अपने—अपने हुनर हैं।”⁵⁰

आशय यह है कि समाज के परिवर्तन के साथ—साथ रूढ़ संस्कृतियों में परिवर्तन होना चाहिए। पर यह समाज जानता है कि जैसे ही समाज के शोषित तथा उपेक्षित लोगों के हालात सुधरे कि संघर्ष प्रारम्भ हो जायेगा। यही कारण है कि नदी योजना में काम करने के लिए न तो स्थानीय लोगों को लगाया जाता है और न ही रूढ़ियों को तिरोहित करने का प्रयास किया जाता है।

ग्रामीण और आदिवासी समाज में अंधविश्वास बहुत गहराई तक व्याप्त है। इस सन्दर्भ में मूसर खेरे के मुखिया का बयान देखिए— “कुछ बरस से हमारे खेरे के दिन अच्छे नहीं चल रहे हैं मुखियाजू। गौड़ बब्बा खफा हैं कि जाने कोई ऊँच—नीच हो गई खेरे के किसी जन से या जनीं से। किसी देवता को पथरा समझ कर तोड़ दिया, कि फोड़ दिया, कि फेंक दिया, कि थान बदल दिया उनका, कि हग—मूत दिया उन पर, कि देखकर भी अनदेखा कर दिया उनको, कि मान गिरा दिया उनका, किसी और खेरे वाले ने जप—तप करवा दिया, कि रिद्धि—सिद्धि कर दी, कि खेरे को कील दिया, कि शाप दे दिया, कि मेटने का कौल भर लिया, खबर नहीं।”⁵¹ एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है—“श्राद्ध के दिनों में जो बामन देवता को नहीं बुला पाते जीमने, वे अपने पितरों तक अन्न पहुँचाने के लिए काग—देवता को टेर लगाकर दाने चुगाते हैं।”⁵²

कैलाश महाराज ने गाँव में प्रचारित कर दिया कि रामदुलारे दरअसल बसोर की औलाद है। हमारे दददा ने पुण्य कमाने के लिए, उसे पवित्र करने की नीयत से उसके बाप के रूप में हमारा नाम जोड़ दिया था। है तो वह आज भी नीच ही, और रामदुलारे के सम्पर्क में आने से यशस्वनी भी नीच हो गई है।

कैलाश ने मंदिर में आने वाली औरतों को भी समझाया कि— “यदि तुम उस कुँए का पानी भगवान के लिए लाई जिससे यशस्वनी पानी भरती है तो हम उसे कुबूल नहीं करेंगे। जो हमसे झूठ बोली उसे अंतर्दामी तो देखेंगे ही। वे उसे ऐसा शाप देंगे कि पूरा वंश....।”⁵³

ग्रामीण समाज के समान ही आदिवासी समाज की स्थिति भी अंधविश्वासों व रूढ़ियों से जर्जर व त्रस्त है। आदिवासी समाज की चेतना का स्तर इतना निम्न है कि वे अभी भी डाकुओं के अज्ञात भय से डरते हैं। यह समाज आज़ादी के इतने सालों बाद भी वही कंद-मूल जंगल की चीजें खाकर जीवन का गुज़ारा करता है। इनके तन पर कपड़े के नाम पर केवल ‘लिंग’ ढकने के लिए चमड़े की एक पट्टी होती है। प्रश्न यह उठता है कि इनकी इस स्थिति का जिम्मेदार कौन है ? ‘पार’ में लेखक ने साफ-साफ दिखाया है कि यहाँ का दलाल शासक वर्ग लगातार इस समाज को विकास से दूर रखने का प्रयास करता है। गुनिया द्वारा शहर में निर्मल साव पर आक्रमण के पश्चात डाँग की तरफ चला जाना, यह सिद्ध करता है कि यह समाज भयमुक्त नहीं है। भय किसका है ? जाहिर है, यह अज्ञात खौफ निर्मल साव का है, पुलिस का है, और आखिरकार पूरे प्रशासन का है। आखिर क्यों अब तक इनको इसी स्थिति में रहने के लिए विवश किया गया ? ‘पार’ के रचयिता इसी सवाल के बरक्स परम्परा, इतिहास और समाज से बार-बार टकराते हैं।

‘पार’ में रामदुलारे कहता है — “सरकार कहती है हम अभयारण्य बनाएँगे। लड़ैई को, जीरोन को वापस गुरीला पर बसाएँगे। पुराने जमाने के ढंग का रहना-सहना रखेंगे ताकि भविष्य में पर्यटक आकर देख सकें की प्राचीन काल में यहाँ लोग किस तरह रहते थे। यानी वहाँ विकास की किरण नहीं पहुँचने दी जाएगी। लोगों को संग्रहालय की, अजायबघर की वस्तु बनाया जाएगा। जैसे

खजुराहो में किया गया है। जैसा भोपाल में भारत भवन में किए जाने के प्रयास चल रहे हैं। यानी अब संस्कृति चलायमान नहीं, कहीं-कहीं विद्यमान रहेगी। स्थापत्य की वस्तुओं की तरह स्थिर, स्थापित। वे इक्कीसवीं सदी में नहीं संभवतः ईसा पूर्व की किसी सदी में रहेंगे।”⁵⁴

गाँव का मुखिया अपनी उलझन का पार पाने के लिए पार तक की यात्रा करता है। मुखिया के साथ 'झबरा' का पार तक जाना प्रेमचंद के 'पूस की रात' कहानी का कथानक याद करा देता है। मुखिया लाड़ से डपट लगाता है —“तोए संगे पंचैट करनी थी का मोए। काहे को गदबद दी पार तक।”⁵⁵ जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को बाज़ार में बेचकर अपना जीवन जीना चाहता है, जहाँ हर व्यक्ति एक-दूसरे को हानि पहुँचाना चाहता है, वहाँ 'पार' उपन्यास ने झबरा और मुखिया के माध्यम से यह संदेश व्यक्त किया है कि अभी निष्ठा, ईमानदारी व वफादारी के कारण जानवर व इंसान एक ही हैं।

'पार' उपन्यास आदिवासियों की भयानक त्रासदी को आत्मसात करता है। 'पार' इनकी दयनीय स्थिति को पचा नहीं पाता है वह उभरकर 'पार' के कैनवास पर छितर जाती है। एक तरफ इनके श्रम के सहारे जीने वाला वर्ग अपनी सारी ताकत से यथास्थिति को बनाये रखना चाहता है तो दूसरी तरफ उपन्यासकार 'वीरेन्द्र जैन' इनके तंग-जर्जर दशा के कारणों को समाज के बीच लाने का संघर्ष करते हैं। परिणामस्वरूप दोनों ओर से टकराहट की गूँज सुनायी पड़ती है। सांस्कृतिक विकास की इन्हीं विसंगतियों के कारण 'पार' उपन्यास में यह टकराहट बार-बार सुनायी पड़ती है। गोराबाई और अट्टू साव का पवित्र प्रेम अन्ततः इन्हीं सामाजिक रूढ़ियों के दबाव के कारण पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता है। विकास ने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं यथा साबुन, फरिया, पोलका, सुपारी, चूड़ियाँ,

टिकिया, बिंदिया आदि का निर्माण तो कर दिया पर इसे खरीदने के लिए विकास की नीतियाँ इस आदिवासी समाज को श्रम शक्ति प्रदान नहीं कर पाई। मनुष्य का मन है, नयी चीज के प्रति आकर्षित तो होगा ही। 'पार' के माध्यम से लेखक ने यही बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार इन चीजों को प्राप्त करने के लालच में ये वनबालाएँ शहरी कोठे पर जा बैठती हैं— "निर्मलसाव मुरैना आते रहे। कचहरी में हफ्तों विराजते रहे। किस्म-किस्म के जिस्मों के कारोबारियों की, जिस्मों के दाम और बिक्री की सम्भावनाओं की राई-रत्ती जानकारी जुटाते रहे।"⁵⁶

खाने-पीने की चीजों को छोड़कर जिस्मों की तिज़ारत करना निश्चित रूप से सांस्कृतिक अधःपतन का परिणाम है। बाज़ार में इन जिस्मों के माँग करने वाले व्यक्ति कौन हैं ? ये वही व्यक्ति हैं जो विभिन्न योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए गाँव में जाते हैं। यह शहरी वर्ग पूँजीवाद की विडम्बनाओं से ग्रसित होने के कारण गाँव के स्वच्छ वातावरण को गंदा करता है। नदीघाटी योजनाओं के कारण बाँध बनना तो विकास का सूचक है लेकिन इनकी आहत मानसिकता गाँव के सुख चैन को उनसे जबरन छीनती है। वीरेन्द्र जैन का 'पार' उपन्यास शासकवर्ग, प्रशासन तथा शहरी वर्ग के काले चेहरे पर से नकाब का पर्दा उठा देता है। यह प्रश्न उपन्यास में जीवंतता के साथ उभरकर आता है कि ग्रामीण तथा आदिवासी समाज के सांस्कृतिक ह्यस के लिए पूरी तरह यह वर्ग जिम्मेदार है। जब संस्कृति ही दूषित व ग्रसित होगी तब समाज भला कैसे बचेगा। इसी सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की विसंगतियों को अपनी आंचलिक भाषा में सजीव बनाता है वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'पार'।

भारतीय सांस्कृतिक ढांचे में विश्वासों, मान्यताओं का स्वरूप एक सीमा तक परम्परागत है। हालाँकि जीव जगत जैसे दार्शनिक सवालों में सामाजिक, सांस्कृतिक संरचनाओं की महती भूमिका रही है। इन सवालों के प्रत्युत्तर सामाजिक, सांस्कृतिक प्रासंगिकताओं को ध्यान में रख कर ही दिये जाते रहे हैं। लोक विश्वास भी इस दायरे को पार नहीं कर पाते। जिस तरह दार्शनिक प्रश्न बृहत परम्परा का हिस्सा है उसी तरह लोक विश्वासों में भी इन प्रश्नों पर अपना एक मत प्रस्तुत करने की आदत रही है। 'पंचनामा' का आरम्भ भी इसी तरह के सवालों और उनके प्रत्युत्तरों से होता है—“इस बिरादरी में किसी पूर्व-भव की पुण्यात्मा को पुत्र के रूप में जन्म मिलेगा या पुत्री के रूप में, यह भी भूतपूर्व पुण्यात्मा के अभूतपूर्व पुण्यों पर निर्भर है। बिरादरी इतना-भर जानती है कि जो ज्यादा पुण्यों की स्वामिनी आत्मा होती है वह उनकी बिरादरी में पुत्र रूप में जन्म लेती है और जो कुछ कम, वह पुत्री रूप में। इसीलिए पुत्र रूप में जन्मी पुण्यात्मा जन्म भर अपने संचित पुण्यों का फल भोगती रहती है और पुत्री रूप में जन्मी पुण्यात्मा कुछ अर्सा बाद अपने पुण्यों का फल लेकर अन्यत्र चली जाती है।”⁵⁷ बिरादरी और स्त्री-पुरुष के सवाल इस कथन में उन्होंने उठाये हैं। पूर्व जन्म के कर्म और उनका पुण्य लाभ कितना किसको मिलता है इसका कोई ठोस कारण उपस्थित नहीं है फिर भी यह विश्वास कायम है। आधुनिक भारत में सांस्कृतिक विकास के नये रूप इनको इस रूप में स्वीकार नहीं करते। ऐसा न करने से एक समाज विश्वासों की दृष्टि से असहाय महसूस करता है, अपने को अप्रासंगिक पाता है।

‘वीरेन्द्र जैन’ सांस्कृतिक सवालों को इस तरह उठाते हैं कि कई बार लगता है आजकल हो रहे तमाम धार्मिक ढोंगों का मज़ाक उड़ा रहे हैं। कई ऐसी घटनाएँ देश में हुई जिन्होंने आस्था के विकट रूप प्रस्तुत किये, गणेश जी की

मूर्ति का दूध पी जाना, पेड़ में साँई बाबा की मूर्ति उभर आना। यह कोई नई परिघटना नहीं है, ऐसी मान्यताएँ आदिम सांस्कृतिक स्वरूपों में बहुत बार दिखायी देती रही हैं मसलन—“देवता कभी किसी सिद्ध स्थान पर नारियल चढ़ाने की माँग करते थे तो कभी मन्दिर में एक सप्ताह किसी एक भगवान की पूजा करने की, कभी गैया का दूध पिलाने की। कभी कहीं से आया हुआ बताते, कभी कहीं से। एक बात अलबत्ता समान रहती थी। वे कोई से देवता क्यों न हों, कहीं से क्यों न आए हों, कैसा भी पूजा—चढ़ावा क्यों न माँगा हो, लेकिन तमाम देवता जाने से पहले नन्ना द्वारा दाऊ, मँझले या सँझले भैया को दी गई अठन्नी वापस जरूर माँगते थे।”⁵⁸ इस कथन से स्पष्ट है कि देवता या गायें स्वयं ऐसा नहीं कर सकते, मध्यस्थों के जरिये उनकी इन इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है। आज़ाद भारत में इन मध्यस्थों की भूमिका बहुत बढ़ गई है। भय और निराशा के माहौल में विकल्पहीन सांस्कृतिक स्थितियाँ विद्रूपों को जन्म देती रहती हैं।

अकलंक को छात्रावास से निकाल दिया गया तो वह प्रज्ञाचक्षु ‘डॉ० इन्द्रदेव शास्त्री’ के घर नौकरी कर लेता है। वहाँ श्रीमती शास्त्री की प्रताड़ना से ऊबकर साधुओं के चातुर्मास के दौर में धर्म भवन में शरण लेता है। वहाँ ठहरे एक मुनि की नज़र उस पर पड़ती है। मुनियों का विश्वास है कि एक शिष्य बना लेने पर उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अकलंक में उन्हें सुयोग्य शिष्य की संभावना दिखायी देती है— मेधावी, धार्मिक, संस्कृत का जानकार और गरीब। सेठ कपड़ावाला मुनि के भक्त हैं। वे अकलंक को चालीस—पचास हजार देने को तत्पर हैं यदि वह दीक्षा ले ले। शिष्य बनाने में भी व्यापार। अकलंक भड़क उठता है — “तो आप मुझे खरीदना चाहते हैं। ताकि मरने से पहले आपके मुनिजी एक शिष्य बनाने के एवज में मरने के बाद स्वर्ग के अधिकारी हो जाएँ.....।”⁵⁹

‘ग्राम्शी’ ने ग्रामीण बुद्धिजीवियों की परिभाषा तैयार करके बौद्धिकता के अभिजात ढाँचे को ध्वस्त कर दिया था। बौद्धिकता, तार्किकता, वैज्ञानिक कोई शिक्षित और अभिजात वर्ग के एकाधिकार नहीं हैं बल्कि उत्पादन सम्बन्धों पर आधारित समाज स्थिति के बदलने पर पुरानी बौद्धिकताएँ और वैज्ञानिकताएँ निरर्थक साबित हो जाती हैं उनका स्थान नई स्थानापन्न चेतना ले लेती है। इसी तरह पुराने सांस्कृतिक क्रियाकलाप अप्रासंगिक लगने लगते हैं। आज़ादी के बाद की वैज्ञानिक और शैक्षिक माँगों ने बन्द ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक सोच को बदलने की दरकार की। यह तभी सम्भव था जब ग्रामीण बौद्धिक समाज की शिक्षा व्यवस्था में गम्भीर परिवर्तन हो। सरकारी तौर पर इसके लिए तमाम तरह के शैक्षणिक कार्यक्रम चलाये गये। प्रौढ़ शिक्षा से लेकर नई शिक्षा और सर्वशिक्षा तक। इनका परिणाम यह होना चाहिए था कि अप्रासंगिक हो चुकी सांस्कृतिक संस्थाओं को निर्मूल हो जाना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। ग्रामीण बौद्धिकों की तो बात ही दूर है, शहरी वैज्ञानिक पेशे में लगे लोग भी पुराने तरह के सांस्कृतिक ढाँचे से बाहर नहीं निकल पाये।

‘वीरेन्द्र जैन’ के उपन्यास ग्रामीण और शहरी दोनों समुदायों में व्याप्त तमाम तरह की सांस्कृतिक अप्रासंगिकताओं को खोलकर रख देते हैं। चरित्रों के भीतर अंधविश्वास परिहास की सीमा तक व्याप्त है। इससे वे मज़ाक के पात्र तक बनते हैं। विकास की स्थितियाँ ऐसे क्रिया-कलापों को सहायता ही पहुँचाती हैं। दूसरी तरफ बाज़ार की संस्कृति के पसरने से वैज्ञानिक और बौद्धिक सोच के साथ सांस्कृतिक रिश्ता जैसे छूटा हुआ सा नज़र आने लगता है।

सन्दर्भ

1. वीरेन्द्र जैन : डूब, पृ० 65
2. वही, पृ० 172
3. वही, पृ० 69
4. वही, पृ० 72
5. वही, पृ० 266
6. वही, पृ० 40
7. वही, पृ० 81
8. वही, पृ० 105
9. वही, पृ० 211
10. वही, पृ० 211
11. वही, पृ० 210—11
12. वही, पृ० 183
13. वही, पृ० 232
14. वीरेन्द्र जैन : पार, पृ० 51
15. वही, पृ० 113
16. वही, पृ० 30
17. ब्रह्मदेव शर्मा : नया—प्रतीक (औद्योगिक परिसर में आदिवासी) सितम्बर, 1977, पृ० 23
18. वीरेन्द्र जैन : पार, पृ० 65
19. वही, पृ० 70
20. वही, पृ० 67

21. वीरेन्द्र जैन : पंचनामा, पृ० 171
22. वही, पृ० 204
23. वही, पृ० 252
24. वही, पृ० 265
25. वही, पृ० 207
26. वही, पृ० 219
27. वीरेन्द्र जैन : सबसे बड़ा सिपहिया, पृ० 20
28. वही, पृ० 25
29. वही, पृ० 111
30. वीरेन्द्र जैन : शब्द—बध, पृ० 42
31. वही, पृ० 52
32. वही, पृ० 55—56
33. वही, पृ० 85—86
34. वही, पृ० 135
35. वही, पृ० 136
36. वीरेन्द्र जैन : डूब, पृ० 28
37. वही, पृ० 28—29
38. वही, पृ० 32—33
39. वही, पृ० 25
40. वही, पृ० 118
41. वही, पृ० 120
42. वही, पृ० 126

43. वही, पृ० 119
44. वही, पृ० 272
45. वही, पृ० 226
46. वही, पृ० 74—75
47. वही, पृ० 101
48. वही, पृ० 115
49. वही, पृ० 117
50. वीरेन्द्र जैन : पार, पृ० 86
51. वही, पृ० 12
52. वही, पृ० 123
53. वही, पृ० 136
54. वही, पृ० 21
55. वही, पृ० 126—127
56. वही, पृ० 65
57. वीरेन्द्र जैन : पंचनामा, पृ० 9
58. वही, पृ० 43
59. वही, पृ० 239



पंचम अध्याय

वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों में आर्थिक और
राजनीतिक विकास की विसंगतियाँ

भारतीय लोकतंत्र की स्थापना में इस बात को गम्भीरता से लिया गया था कि ऐतिहासिक कारणों से पैदा हुई आर्थिक विषमताओं को राज्य दूर करने के प्रयास करेगा। इसके लिये संवैधानिक प्रावधान किये गये, कानून भी बनाये गये और योजनाओं को लागू करने की विशिष्ट प्रणाली अपनाई गयी जो कि समाजवादी ढाँचे पर आधारित थी। यह एक तरह से धीमे-धीमे कमजोर वर्ग के अपलिफ्टमेन्ट को लागू करने की मंशा पर आधारित था। लेकिन आज़ादी पाने की प्रक्रिया में ही लोकतंत्र में ऐसे तत्वों का प्रवेश हो गया था जिन्होंने बाद में गम्भीर आर्थिक विसंगतियों को जन्म दिया।

देश के विकास का आवश्यक आयाम है आर्थिक विकास और इसका नियमन करता है राजनीतिक विकास। राजनीतिक प्रक्रियाओं का स्वरूप यह तय करता है कि किस तरह की आर्थिक प्रक्रियाएँ राष्ट्र में नीतिगत रूप प्राप्त करेंगी। हालाँकि मार्क्सवादी विचार यह मानकर चलता है कि आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे अस्तित्व को निर्धारित करती हैं। राजनीतिक, सामाजिक विचारधारा को प्रभावित करती हैं लेकिन यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में घटित होने वाली प्रक्रिया है। प्रत्यक्ष रूप में दिखने वाली प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया है और अन्तस्थल में यह आर्थिक प्रक्रिया से संचालित होती है। भारत में विकास के राजनीतिक, आर्थिक स्वरूप को एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में ही समझा जा सकता है। वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में इन प्रक्रियाओं, व्यावहारिक रूपों की गहन समीक्षा की है।

5.1 आर्थिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप :-

‘वीरेन्द्र जैन’ ने श्रमिक वर्ग की आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करते हुए इस वर्ग की जिन्दगी का जो खाका प्रस्तुत किया है, वह यथार्थपरक एवं अत्यन्त मार्मिक है। अट्ठू साव का निम्न कथन महत्वपूर्ण है— “तुम कोई किसी का दिया खाते हो, जो डरते हो ? हाड़-तोड़ मेहनत करते हो तब कहीं मुँह जुठारने लायक अन्न मिलता है। भूखे पेट रहने से जब डर नहीं लगता तो बेगार करने को मना करने से क्यों डरते हो भला ? उनका काम होना जरूरी है तो क्या तुम्हारा पेट भरना उससे ज्यादा जरूरी नहीं है ? किसी से मत डरो! अपना हक माँगो, और जो न दे उससे लड़कर लो !”¹

यह लेखक की ‘सर्वहारा चेतना’ का साहित्यिक निरूपण है। मार्क्सवाद के आर्थिक विश्लेषण में यह बात आधारभूत है कि एक बड़े समुदाय से उसके आर्थिक संसाधनों को हड़प कर एक बड़ा समुदाय अपना आर्थिक स्तर ऊँचा बनाए हुए है और उसके मूल्य सांस्कृतिक स्तर पर तमाम तरह की बेईमानी को तरह-तरह से लागू करते हैं। उपन्यासकार का यह सांस्कृतिक विभेद उसके आर्थिक चिन्तन का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

निम्न वर्ग को खून-पसीना बहाकर भी उच्च जाति का शोषण सहना पड़ता है। ‘डूब’ में इसी आधार पर आर्थिक शोषण की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है— “बानियों का चारा काटने की जो मजूरी मिलती है, वह ठाकुरों से नहीं मिलती। खासकर ठाकुर देवीसिंह तो मजूरी देते ही नहीं। इलाके-भर में चारा काटने वालों का मेहनताना है — रोज के रोज नगद कलदार या फिर एक सेर अनाज और चारा काटने के बाद साँझ को घर जाता मजूर जितना चारा सिर पर ढोकर ले जा सके उतना चारा ले जाने की छूट। कहने को तो सब कहीं यही मजूरी है पर

मजूर को अनाज के नाम पर मिलता है कूड़ा—करकट। वह भी तौल में सेर की जगह आधा सेर, तीन पाव और चारे का गट्ठर बाँधते समय मालिक की ना—नुकर के चलते सिर पर ढोने लायक गट्ठर की जगह पाता है वह काँख में दबाने लायक चारा। किसी भी साव या ठाकुर के घर में तो मजूर घुस नहीं सकता, सो देहरी के बाहर अपना कपड़ा बिछा देता है। देहरी के दूसरी तरफ से साव या साउन, ठाकुर या ठकुराइन, महाराज या महाराजिन सेर का बर्तन भर—भर के अनाज फेंकते रहते हैं।²

भारतीय अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण आयाम रहा है 'जजमानी प्रथा' और उसी से पैदा हुई बेगार की पद्धति। इन दोनों ही पद्धतियों में श्रमिक वर्ग को नगद भुगतान की परिपाटी नहीं है। नगद भुगतान इस बात की आज़ादी देता है कि श्रमिक अपने श्रम मूल्य का जिस रूप में चाहे इस्तेमाल कर सकता है। लेकिन जब श्रम मूल्य वस्तुओं के रूप में दिया जाता है और विशेषकर ऐसी वस्तुओं के रूप में जिनका बाज़ार मूल्य नहीं है तब यह मजबूरी हो जाती है कि श्रम मूल्य का व्यक्तिगत उपयोग किया जाय। व्यक्तिगत उपयोग से श्रमिक की आर्थिक हालत में कोई बदलाव नहीं आता, उसकी स्थिति जस की तस बनी रहती है। यह मूलभूत कारण है जिससे भारत में श्रमिक वर्ग की स्थिति सदियों से जस की तस बनी रही है। मुगलकाल में फिर औद्योगिकीकरण के समय में श्रमिक स्थितियों में आये परिवर्तन का आधारभूत कारण श्रमिक मूल्य का जिंसों से अलग नगद भुगतान है। भारतीय ग्रामीण समुदाय में आज भी श्रमिक मूल्य का जिंस के रूप में अदा किया जाना प्रचलित है। यह स्थिति तमाम विसंगतियों को जन्म देती है।

भारतीय समाज का ढाँचा बहुत पहले से ही वर्गवादी रहा है। समाज में कुछ लोग जहाँ सुख—सुविधाओं से जुड़े हुए हैं और सत्ता प्रतिष्ठानों से लेकर सम्पत्तियों तक के स्वामी रहे हैं, वहीं समाज का बहुत बड़ा हिस्सा अपने जीवन

की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पा रहा है। यह निर्धन वर्ग पारिवारिक स्तर से लेकर सामाजिक तथा आर्थिक स्तर तक दीन-हीन बना हुआ है। इस निर्धनता को चित्रित करते हुए लेखक कहता है —“यह मामला तो एक अमीर, ताकतवर और कुछ गरीब बेसहारा लोगों के बीच का है। इसमें अगर हम ठाकुर की तरफ से बोले तो हमें उन गरीबों की ‘आह’ लगेगी। हमारी आत्मा हमें धिक्कारेगी कि मोती, तू भी उसी कहावत में यकीन रखता है कि —“समर्थ को नहीं दोष गोसाईं।”³

लड़ैई गाँव का जीवन दिन-प्रतिदिन तालाब के पानी की तरह थमने लगता है। वहाँ के सारे कार्यक्रम रुक जाते हैं। गाँव के सम्पन्न साव-साहूकार एवं विकसित पीढ़ी वहाँ से पलायन कर आस-पास के शहरों में जाकर बस जाते हैं। लेकिन जिनके पास जीविका के लिए खेती के अलावा कोई साधन नहीं है, वे वहीं जमे रहते हैं। एक तो विकास के विभिन्न पहलुओं की सूचनाएँ और क्रियान्वयन की पद्धति के मसले उन तक पहुँच नहीं पाते हैं दूसरे अपनी अशिक्षा, गरीबी और अविकास के कारण वे इस योग्य नहीं हैं कि बाहर जाकर कोई अन्य काम कर सकें। साथ ही अपनी जन्मभूमि से वे किसी भी शर्त पर उजड़ना नहीं चाहते। उपन्यास के प्रमुख पात्र ‘माते’ के मन में अपनी मिट्टी के प्रति गहरा लगाव है। वह मात्र निर्वाह के साधन के कारण नहीं है, बल्कि इससे उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता भी जुड़ी हुई है। यही कारण है कि माते और उनके साथ के किसान-मजदूर अभावों एवं तकलीफों को झेलते हुए भी गाँव में ही डटे रहते हैं।

लड़ैई के निवासी अपने को बेदखल किए जाने की सरकार की इस अंधेर नीति से चिंतित हैं। कहाँ तो सरकार उनके विकास के लिए बाँध बनवाने की बात कर रही थी। वहीं वह अब उन्हें अपने घर, जमीन, परिवेश एवं रोजी-रोटी की दुनिया से मरहूम करने पर तुली है। अपने प्रति किए जा रहे इस अत्याचार से

लड़ैईवासी काफी क्षुब्ध हैं। गाँव वालों के क्षोभ को दिखाते हुए आधुनिक विकास प्रणाली की विसंगति पर लेखक ने टिप्पणी की है —“कैसा फरेब है ये ? कितना बड़ा झूठ है ये ? कैसी खुशहाली है ये ? कैसा बाँध है ये ? नरबलि लेगा ये ? पशुबलि लेगा ? धरती माता की बलि लेगा ? धोखा है ये ! जो हमें लीलेगा वह औरों को भी लीलेगा। वह फिर किसी को खुशहाल नहीं करेगा हमसे बिना पूछे हमरी तबाही का फैसला ले लिया ? ऐसा तो डाकू भी नहीं करते। वे धन जरूर लूटते हैं, पर घर से बेघर नहीं करते। वे तो अमीरों को सताते हैं। हाँ, उन्हें सताते हैं जो दीनों को सताते हैं दिन-रात। और यह सरकार ! यह गरीबों को सताएगी ! उन्हें सताएगी जिन्हें भाग्य, भगवान, धनवान सभी पहले ही सताने पर आमादा हैं ?”⁴

‘डूब’ बाढ़ की विभीषिका पर लिखा गया है। इस विभीषिका से त्रस्त एवं पीड़ित लोगों को राहत और सुविधा देने में सरकार और स्वयं-सेवी संस्थाएँ कितनी असफल सिद्ध होती हैं, इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—“सबको एक ही आश—आज फैसला हो जाएगा हमारे भाग्य का। बरसों से अधर में अटका सवाल हल होगा आज। न खाया हो अन्न का दाना, न पाया हो कलेवा..... सब दिन से गले में अटका यह डूब का कौर तो पहुँचेगा आज ठीक—ठिकाने पर।”⁵

परिवार के किसी सदस्य से आर्थिक लाभ न हो तो वह परिवार के लिए बोझ बन जाता है। ‘डूब’ में आँधरे कक्का के साथ ऐसा ही हुआ। आँधरे कक्का के सामने जग के रिश्ते इस तरह उजागर हुए— “आँखें जाते ही देखा आँधरे कक्का ने कि कैसे उनकी घरवाली, यहाँ तक कि अपने शरीर के अंश बच्चे भी उन्हें अकेला छोड़कर जा बैठे अपनी ननिहाल में। यहाँ आँधरे कक्का रह गए अकेले। तब से चक्की पीसकर गुजर-बसर करते हैं आँधरे कक्का।”⁶

फिर एकाएक बाँध का काम शुरू होता है। लोगों की जमीन, मकान, कुँए, पेड़ बगैरह सरकार द्वारा किस्तों में अधिग्रहीत किए जाने लगते हैं। और इन दिनों वहाँ के निवासियों के अनुभव की मानसिकता का सूक्ष्म सर्वेक्षण करते हुए लेखक कहता है, कि गाँव में चारों तरफ अफरा-तफरी मच जाती है। लोग अपने भविष्य के प्रति आशंकित हैं और गाँव के इर्द-गिर्द बाँध की दीवार बनना शुरू हो जाती है, जगह-जगह गड्ढे खुद जाते हैं लोग बेचैन हो उठते हैं क्योंकि उनके पुनर्वास का कोई मुकम्मल इंतजाम नहीं हो पाता। अपनी जन्मभूमि से सामान्यतः होने वाले भावात्मक लगाव के कारण लोग टूटने लगते हैं।

राजघाट की उत्तर प्रदेश वाली सीमा के कैलवारा, बकलवारा, दैलवारा और उनसे लगे दर्जनों गाँवों में मुआवजा देने के लिए सरकारी कागज पहुँचने लगते हैं। महीनों की भागा-दौड़ी के बाद तब कहीं जाकर गाँव वालों को मालूम होता है कि सरकार को अभी खेतों वाली जमीन की दरकार है; सो आनन-फानन में सबको जमीनों का मुआवजा दे दिया जाता है। लेकिन घर, बाखर, खेतों में मौजूद कुँए, पेड़ों की तब कोई कीमत नहीं आंकी जाती है क्योंकि कहा जाता है कि अभी सरकार को उसका मुआवजा देने के लिए रकम नहीं है। इस प्रकार गाँव के लोगों की जमीनें बिक जाती हैं— “जमीनों का रूपया किसानों के हाथ में आया कि बानियों की चाँदी हो आई। किसानों ने हाथ में आए कलदार अपनी कट्टी के खलीते में बाद में रखे होंगे कि पहले बानियों ने अपना अगला-पिछला हिसाब चुकता कर लिया। इस वसूली के बाद बानियां लोग तो जा बसे ललितपुर, कि झाँसी, कि बीना, कि भोपाल। और किसान रहा आया बाखर, कुँए, पेड़ का मुआवजा मिलने के इंतजार में।”⁷

बाँध बनने का काम शुरू होने पर भूमिहीन एवं बेरोज़गार हो गए लोगों के बीच खुशी की लहर दौड़ गयी कि अब उन्हें रोज़गार मिलेगा। लेकिन ठेकेदारों

और मुख्तारों ने यह कहकर वहाँ के स्थानीय लोगों को काम पर लेने से इन्कार कर दिया कि वे आए दिन शादी-विवाह, पर्व आदि में व्यस्त रहते हैं, उनसे कैसे काम होगा ? इस दलील के आधार पर दूसरे राज्यों यथा केरल, तमिलनाडु और उड़ीसा से गरीब मजदूर लाए गये जो काम तो करें, मगर पैसे जो पाएँ उसमें संतोष करें। इस प्रकार सीधे-सादे, मेहनती और कम बोलू लोगों की भीड़ इकट्ठी की जाती है। लेखक ने मजदूरों की इस दयनीय स्थिति पर व्यंग्य किया है— “कम-बोलू तिस पर सोने में सुहागा यह कि न सरकारी बाबू उनकी भाषा समझें, न वे बाबू की। सो जो काम होना होता, जो काम होता, सब इशारों में। लड़ाई, कि प्रीत की नौबत ही नहीं। बोल, कि कुबोल की गुंजाइश ही नहीं।”⁸ इस तरह वहाँ के भूमिहीन कर दिए गए किसानों को व्यवस्था की दुहरी मार का सामना करना पड़ता है।

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है किसान जीवन के सामने ऊबड़-खाबड़ परिस्थितियाँ मुँह फैलाए खड़ी हो गयी हैं प्रकृति पर निर्भरता एक समस्या है। किसानों का महाजनों पर निर्भर होना इससे भी बड़ी समस्या है। सरकारी उपाय विकास के नाम पर तमाम तरह के कार्यक्रम चलाते रहे लेकिन किसान वहीं का वहीं रहा। उपन्यासकार लिखता है— “उनका तो फसल को लेकर सीधा-सा एक ही गणित था। साहूकार से बीज उधार लेकर बोना, उस पर हाड़-तोड़ मेहनत करना, फिर भाग्य और भगवान के भरोसे वर्षा रानी का इंतजार, या फिर सूखा न पड़े इसके लिए नदी और बामन महाराज को चढ़ावा चढ़ाना। फिर यदि बाढ़ या सूखे से फसल बच गई तो पक जाने पर उसे काटकर, सुखाकर, फटककर लेनदारों का इंतजार करना। बामन, नाई, धोबी, लुहार, बढ़ई, बसोर, मंदिर—इन सबका हिस्सा देने के बाद लंबरदार को तौजी और साहूकार को सूद के बदले फसल नपवाना।”⁹

अपनी खेती, गृहस्थी की जमीन एवं रोज़गार की सुविधाओं से वंचित ये लोग जीने के लिए पुनः बनियों के शोषण चक्र का शिकार बनते हैं। हीरा साव, निर्मल साव आदि साहूकार इनकी शेष रह गयी जमीन, बाखर, टपरा, कुँए आदि को थोड़ी सी रकम के बदले में हथिया लेते हैं और उन्हें अपने खेतों में बंधुआ मजदूर बतौर रख लेते हैं। इस प्रकार विस्थापित लोगों की आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन बदतर होती जाती है।

लेखक ने बाँध-पीड़ितों के साथ की जा रही लूट-खसोट एवं अमानवीयता का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। मुआवजा दफ़्तर के सरकारी कर्मचारियों एवं गाँव के सम्पन्न साहूकारों का गुट बाँध-पीड़ितों को सब प्रकार से लूटकर उनका शोषणकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है। घूस एवं रिश्वत के बल पर सिंचित जमीन को असिंचित एवं असिंचित जमीन को सिंचित करने की कार्रवाई को अंजाम दिया जाता है। ग़रीब लड़ैईवासियों की सिंचित जमीन को न केवल असिंचित करार दिया जाता है बल्कि उनके बाखर, टपरे, कुँए, पेड़ आदि को मुआवजे के नक्शे से गायब कर दिया जाता है। लेखक ने लड़ैई के किसानों के साथ की जा रही लूट का यथार्थ चित्रण किया है — “अगर वहाँ अब जमीन नहीं, नदी है, तो क्या हमारा दोष है ? बाढ़ लाया कौन ? हमारी जमीन को बेतवा मैया लील गई किसकी करतूत के चलते ? अगर हमारी जमीन पर कुँआ नहीं है तो क्या हम भटकों से पानी देते रहे खेतों में ? अगर हमारी तमाम जमीन पर चारा होता है तो हम खाते कहाँ से रहे अन्न अब तक ? हमारा पूरा खानदान ढोरों का है कि आदमियों का ? नहीं चाहिए हमें मुआवजा ! बना लो कहीं और जाकर बाँध ! हम आगे भी चारा खा लेंगे।”¹⁰

यह एक भयानक विड़म्बना है कि पहले से ही पैसे-पैसे को मोहताज निर्धन किसान दोनों ओर से पिसने लगते हैं। आर्थिक भ्रष्टाचार को अपना

अधिकार मानने वाले सरकारी कर्मचारी, बनियों और जमींदारों से मिल जाते हैं तथा आर्थिक शोषण को वैधानिक और न्यायोचित बनाकर किसानों को और कंगाल बना देते हैं। 'डूब' में यही होता है— "इधर फसल कटकर तैयार हुई नहीं कि उधर जाने कौन-कौन से महकमे के सरकारी बाबू आ खड़े हुए हैं फसल के मालिक की छाती पर। खेत का धनी तो उनके आने का कारण समझने से रहा। वह तो उजबक की तरह देखेगा। हो सकता है झगड़ ही पड़े। ऊँच-नीच कर बैठे कुछ। निर्मल साव को समझाना है उसे कि देखो भाई, तुम इस खेत का मुआवजा पा चुके हो न ! सो अब यह खेत हुआ सरकार की मिल्कियत। और ये साहिब हैं सरकार के मुलाजिम। उसकी सम्पत्ति के रखवारे। यानी कि खेत हुआ इनका। अब तुमने इनके खेत में फसल उगाई है, सो ये मालिक की हैसियत से अपना हिस्सा ही तो माँगने आए हैं, अन्याय करने तो नहीं आए।"¹¹

औद्योगीकरण के बावजूद यदि किसानों की खेती बुरी हालत में है और स्वयं किसान शोषण मुक्त नहीं है तो कम से कम भारत की आर्थिक उन्नति का सपना नहीं देखा जा सकता। किसानों की बदहाली का वर्णन इस प्रकार है — "तुमरे जेहन में नहीं आएगी यह बात। तुम तो दिन-रात कलदारों के बीच विराजते हो न खजाना बाबू ! जब हाथ में टका चाहिए हो तो कैसे तकना होता है साव की ओर, कैसे और कितनी देर हेरना होता है साव की मुइयाँ को, तुम क्या जानो ! सदियों से हम लोग बानियों के भरोसे रहे हैं न ! इधर पिछले कुछ वर्षों से, जब से सरकार ने यह उन्नति की योजना बनाई है, तब से तो पूरी तरह इन्हीं पर आश्रित हैं हम। पहले तो अपनी कमाई के बदले कुछ लेते-देते थे। फिर लेते रहे अपनी पूँजी के बदले। और अब लेने लगे हैं केवल एक आश के बदले।"¹²

हमारे देश में चलाई जा रही विकास योजनाओं की विसंगतियों का ही नतीजा है कि एक तरफ तो दिल्ली, मुम्बई टाइप के महानगरों का विकास किया जा रहा है जहाँ सुख-उपभोग की तमाम सुविधाएँ उपलब्ध हैं। वहीं दूसरी ओर लड़ैई जैसे भारत के बहुत से पिछड़े क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ जीने के लिए मूलभूत सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं, एक तरफ कम्प्यूटर एवं टेली कम्युनिकेशन के साथ भारत के अंतरिक्ष युग में पहुँचने की बात की जा रही है, वहीं दूसरी तरफ भारत के बहुत से गाँव में अभी तक पीने का पानी नहीं पहुँच पाया है। आज महानगरों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ एवं उसी के समानांतर खड़ी झुग्गी-झोंपड़ियाँ इक्कीसवीं सदी के भारत के ही दो रूप हैं, जो बताते हैं कि इस देश में अपनायी जा रही विकास प्रणाली असंगत एवं गैरबराबरी वाली है। पश्चिमी तकनीक केन्द्रित विकास का मॉडल, जो कुछ लोगों को अमीर बनाने के लिए ज्यादा लोगों को गरीब बनाता है, वह सब की अमीरी एवं खुशहाली का आधार बन नहीं सकता।

‘पार’ का समाज आर्थिक गतिविधियों के मामले में सरल प्रकार का समाज कहा जाना चाहिए। ऐतिहासिक रूप में यहाँ के लोगों में उत्पादन, वितरण और विनिमय के जो प्रारूप रहे हैं वे जटिल नहीं रहे हैं। इन समाजों में प्रतिस्पर्धा नहीं पायी जाती, लोग अपनी जरूरतें पूरा करने के लिये उत्पादन करते रहे हैं, बाज़ार के लिए उत्पादन की अवधारणा अभी घर नहीं की है। अधिकतर लोग घरेलू किस्म की उत्पादन प्रणाली से जुड़े रहे हैं। जटिल आर्थिक व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप ने इन समीकरणों को तोड़कर रख दिया है। लोग मजदूरीकरण, बेरोज़गारी, भुखमरी और तमाम तरह के आर्थिक संकटों को झेलने को अभिशप्त हो रहे हैं। एक तरफ इनके संसाधन देश की उन्नति और समाज के विकास के आधार बन रहे हैं दूसरी तरफ ये लोग निरन्तर विपन्नता के शिकार हो रहे हैं। ‘पार’ उपन्यास में विकास के नाम पर नदीघाटी परियोजनाओं के आने से जड़ ग्रामीण परिवेश गतिशील होता

है। इन योजनाओं और नीतियों को इस प्रकार लागू किया गया कि जो आर्थिक रूप से सम्पन्न थे वे और सम्पन्न होते चले गये तथा जो आर्थिक रूप से विपन्न थे वे और निर्धन होते चले गये। यह उपन्यास आर्थिक विकास की इन विसंगतियों पर फोकस करता है। 'डूब' क्षेत्र के अन्तर्गत गाँवों के आने के बाद मुआवजे के लिए बनायी गयी नीतियों के अनुसार निर्मल साव और कैलाश महाराज हर तरह के तिकड़म अपनाते हैं। निर्मल साव ने तहसीलदार के यहाँ अर्जी भी डाल दी है कि इस समाज को हमारे पूर्वजों ने बसाया था, अतः मुआवजा हमें को मिलना चाहिए।

निर्मल साव का मजमून इस प्रकार है— “पाँच पीढ़ी पहले हमारे पूर्वजों ने एक बार जीरे की खेती में भारी मुनाफा होने पर बसाया था जीरोन खेरा। ताकि वहाँ जीरे की और खेती की जा सके। उन्हीं ने वहाँ की पथरीली, ऊबड़-खाबड़ जमीन समतल करवाई थी। कुँआ खुदवाया था। फलदार वृक्ष लगवाए थे। खाद डलवाई थी। अपने घरू किसानों को बसाया था। बाद में जाने कहाँ से कुछ राउत आए और वहाँ डेरा डाल कर बैठ गए उस जमीन पर हमारा खानदानी हक है। इसके प्रमाण के तौर पर पेश है हमारे खानदान की पिछली सात पीढ़ियों के लेखे-जोखे का कागज।”¹³

अब भला कोई क्या कर लेगा निर्मल साव का ? तहसील में अर्जी देने के अतिरिक्त अपने पक्ष में सारे सुबूत इकट्ठा कर लिए हैं। जीरोन खेरा आदिवासियों का समाज होते हुए भी उनके पास इस बात का सुबूत या प्रमाण नहीं है। अतः सरकारी तंत्र और शासक वर्ग के नियम के अनुसार जिसके पास सुबूत है मुआवजा उसी को मिलेगा। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत का सच है कि जो मेहनतकश इंसान सदियों से दमित और शोषित हैं। वह अभी भी अपनी इस दुर्व्यवस्था से छुटकारा नहीं पा सकता है। वरन् उसकी स्थिति और दिनों-दिन बिगड़ी ही है।

आदिवासी समाज अपनी आर्थिक स्थितियों की कमजोरी के कारण आज भी प्राकृतिक संसाधनों पर ही निर्भर है। आदिवासी राउतनें अभी भी गाँव में जंगल से चीजों को ले जाकर बेचती हैं। इस सन्दर्भ में गाँव के मुखिया का कथन इस प्रकार है — “हाँ, हमारी राउतनें जरूर जाती हैं लडैई में। चिरौंजी देने, तो कभी बीजना, टुकनियाँ, गांजिया, पिरिया, सूप तो कभी तैदू, अचार, करौंदे, खिन्नी, महुआ देने। कभी पनैयाँ—जूतियाँ देने।”¹⁴

बिडम्बना यह है कि आजादी के इतने दिनों बाद भी इन लोगों को अपने सामान के बदले नकद पैसा नहीं मिलता है अपितु बदले में कोई मनमाफिक वस्तु ही मिलती है — “जरूरतमंद सामान में से अपने मतलब की चीज छाँटता है। बदले में जो उसका मन हो, गेहूँ से गोबर तक, वही राउतन की झोली में डाल देता है। बदले में मिलने वाली चीज के मामले में राउतन की इच्छा, जरूरत का कोई सरोकार नहीं होता।”¹⁵

हमारे शासकों ने पश्चिमी बुर्जुआ तरीके के आधार पर ही यहाँ की चीजों को देखने का प्रयास किया है। सो गड़बड़ी तो होनी ही थी। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से हमेशा एक लक्ष्य प्राप्त करने की कोशिश की गयी है। बिडम्बना यह है कि आज तक किसी भी पंचवर्षीय योजना ने अपने निर्धारित लक्ष्य को नहीं पाया है। दूसरे इन योजनाओं की नीतियों का परिणाम हमेशा निर्धारित लक्ष्य के विपरीत ही रहा है। इसी कारण समाज में बिचौलिया व दलाल वर्ग का भी उदय हुआ है। ‘पार’ में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है — “मुआवजा पाने में ढेरों दिक्कतें आईं। निर्मल साव, मुआवजा दफ्तर के बाबू, अफसर को खिलाने—पिलाने के बाद जो हाथ में आया उससे साव लोगों की उधारी ही पूरी नहीं हुई। खेत तो पहले से रेहन रखा था सो मुआवजा साव के पास पहुँच गया। थोड़ा—बहुत किसी

के हाथ आया तो उसने फौरी जरूरतें पूरी कर लीं। किसी ने गहना—गुरिया छुड़वा लिया।”¹⁶

‘पार’ इस नये उपजे वर्ग की तिकड़म बाजियों की भी कहानी कहता है। गाँव की भी आर्थिक स्थिति खराब ही है। वहाँ भी लोग अपनी—अपनी जाति के अनुसार काम में लगे दिखाई पड़ते हैं। नीची जाति वाला जूता बनाता है तो बामन कैलाश महाराज का काम मंदिर में पूजा—अर्चना करना है। यानि समाज में जो वर्चस्ववादी जातियाँ हैं वे समाज के उत्पादन में अपना सक्रिय योगदान नहीं देते हैं। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण यह भी है कि निम्न जाति का काम निकृष्ट समझा जाता है और उसके कार्य के एवज में मिलने वाला उसका पारिश्रमिक अन्य जातियों की तुलना में बहुत ही कम होता है। इन स्थितियों के लिए भी ‘पार’ मूलतः शासकवर्ग को ही दोषी मानता है।

बाँध के निर्माण कार्य प्रारम्भ होने के कारण ग्रामीण जनमानस के रोज़गार के आसार बढ़े हैं, लेकिन बाँध के निर्माणकर्ता स्थानीय लोगों को काम पर नहीं लगाते हैं। कारण वह भली—भाँति जानते हैं कि स्थानीय मजदूरों को कार्य पर लगाने से उनमें एकता बढ़ सकती है और उनका सामूहिक प्रतिरोध उन्हें रहने नहीं देगा। अतः वे इन मजदूरों को काम पर न लगाकर शोषण और दमन की प्रक्रिया को जारी रखना चाहते हैं — इस सन्दर्भ में रामदुलारे, अरविंद से कहता है — “भाई जी, केवल ये दो कारण नहीं थे काम न मिलने के। इनसे भी बड़ा कारण यह है कि बसे—बसाए गाँव के श्रमिक संगठित होते हैं। उनका मनचाहा उपयोग या शोषण संभव नहीं होता। इसीलिए ऐसे श्रमिकों को काम पर नहीं रखते ठेकेदार। इसीलिए वे बाहर से मजदूर लाते हैं। यह केवल यहीं नहीं, हिन्दुस्तान भर में यही चलन है।”¹⁷

ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है कि विकास के रास्ते निष्पक्ष नहीं थे। वे पक्षपातपूर्ण तरीके से बनाये एवं लागू किये गये हैं परिणामस्वरूप इतनी आर्थिक विषमता पैदा हुई है। 'पार' उपन्यास नीतियों के कर्ता-धर्ताओं की इसी कारगुजारी को प्रकाश में लाने का प्रयत्न है। उपन्यासकार यह भी कहना चाहता है कि शासन चाहे विदेशी करें या देशी, स्थितियों के लिए जिम्मेदार हैं— उनके द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियाँ, जो किसी खास वर्ग के हित को ध्यान में रखकर बनायी गयी हैं। निर्मल साव, हीरा साव और कैलाश महाराज तो विदेशी नहीं हैं, ये लोग तो अपने हैं फिर भी ये गाँव की दशा को इतनी सोचनीय और विचारणीय क्यों बनाए हुए हैं। यहाँ उपन्यास के मूल में इसी तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि देशी और विदेशी बाहर से दिखने वाला ढोंग भर है। असली सच्चाई तो है वर्गचरित्र कैलाश महाराज, हीरा साव, निर्मल साव, जो गाँव की सामाजिक संरचना में वर्चस्ववादी वर्ग के दलाल भी हैं और स्वयं भी इन नीतियों को अपनाते हैं..... इसी सत्य को दिखाने के लिए कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में कहने को तो अपनी सरकार और शासन है फिर भी स्थिति इतनी भयावह क्यों है ? कहाँ गया हमारे नेहरू, इंदिरा के सपनों का भारत ? अपने इन्हीं विचारों को उपन्यासकार ने मूर्तरूप में पेश करने का प्रयास किया है।

आजाद भारत में किसान समस्याएँ विकराल रूप लेकर खड़ी हैं आये दिन किसान आत्महत्याएँ होती हैं इसके लिये जिम्मेदार कौन है ? ये विकास की इन असंगत परिस्थितियों में दिखाई देता है। 'पंचनामा' उपन्यास में साहूकार नन्ना कर्ज चाहने वाले किसान से खाता—बही में अंगूठा निशानी लेकर कर्ज देते हैं। फसल कटने पर कर्जदार से सूद वसूल करते हैं। इस क्षेत्र में अतिवृष्टि या अनावृष्टि का अवसर आये साल आता ही रहता है कभी किसी गाँव का बाढ़ से, तो कभी सूखा से सामना होता ही रहता है इस स्थिति में नन्ना किसान को पुनः

कर्ज देते हैं — “किसी प्राकृतिक आपद—विपद के चलते कर्जदार की फसल चौपट हो जाए, तब भी नन्ना सब्र नहीं खोते। कर्जदार को भी ढाढस बँधाते हैं। उसे नए सिरे से कर्ज देते हैं। अलबत्ता बदले में उसके खेत—खलिहान, घर—बाखर रेहन रखकर। यदि किसान के घर गहना—गुरिया, बासन—भाँडे हों, उन्हें गिरवी रखने से कर्ज देना संभव हो, तो वही रखते हैं। जैसी किसान की औकात हो, इच्छा हो।”¹⁸

एक तरफ सरकार यह व्यवस्था लागू करना चाहती है कि ‘सब पढ़ो सब बढ़ो’, साक्षर बनो। शिक्षा के सुधार से जीवन स्तर में सुधार आयेगा दूसरी तरफ कारखाने का मालिक चाहता है कि मजदूर अनपढ़ हो, पढ़ा लिखा न हो यह एक बड़ा अन्तर्विरोध है जो विकास की विसंगतियों का पर्याय है। ‘पंचनामा’ में कारखाने का मालिक अकलंक से कहता है कि— “तुमने फोरमैन को पहले क्यों नहीं बताया था कि तुम पढ़े—लिखे हो। हमारे कारखाने में पढ़े—लिखे लोगों को मजदूर नहीं रखा जाता। हजार लफड़े हैं इसमें। कल को तुम सरकारी रेट माँगोगे। हमें तो केवल पैकिंग करानी है। तुम्हारी पढ़ाई—लिखाई को हम चाटेंगे क्या !”¹⁹

मजदूरों का शोषण एक आम बात है। सामन्तवाद के दौर और ब्रिटिश समय में नज़राने से लेकर तमाम तरह की वसूली किसानों और मजदूरों से की जाती थी। अब कारखाने में मालिक इस तरह की वसूली नहीं करते हैं लेकिन गैर अनुभवी होने का तर्क देकर उसके वेतन में कटौती करते रहते हैं — “हाँ, यह हुई न कोई बात। ठीक है फिर..... आज ही से देखना परखना चालू कर दे। मैं बखत—बखत पर समझाता, चेताता रहूँगा। अभी मैं तेरे को तीन रूपया रोज दूँगा, फरचंट हो जाएगा तब पाँच रुपये दूँगा। जब तक मन करे आना, जब न करे न आना। यहाँ रोज तेरे जैसे जरूरतमंद आते हैं....।”²⁰

ग्रामीण भारत बेरोजगारी, बेकारी के ऐसे हालात में जी रहा है जहाँ अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी करने की भी क्षमता उसकी नहीं है अपने आर्थिक स्तर में सुधार की तो बात ही दूर है। सरकार कहती है कि गरीबी की स्थितियों में सुधार हुआ है लेकिन उपन्यासकार दिखाता है कि यह छलावा है, धोखा है। 'शब्द--बध' उपन्यास में आनंद आज भी ऐसी ही स्थितियों में जी रहा है – "मैंने जानना चाहा कि जब उनके हिसाब से मेरा माह-भर का न्यूनतम खर्च एक सौ बीस रूपए है तो मैं छियानवे और कभी बयानवे रूपए में गुज़ारा कैसे कर लूँगा ? कि जिस दिन कार्यालय बंद रहता है उस दिन मुझे खाना खाने या मकान में रहने का अधिकार है या नहीं ? कि यदि मेरा नियुक्ति-पत्र अभी तक तैयार नहीं हुआ तो इसमें मेरा जो दोष है उसका दंड मुझे कब और कितना मिलेगा ? कि शनिवार और इतवार को मैं जो काम करता रहा वह अपराध क्षम्य है या नहीं ? या कि भविष्य में मुझे जो पुस्तकालयों में सुबह पाँच बजे और शाम पाँच बजे दो-दो बार जाना होगा, उसके लिए मुझे पैदल यात्रा करनी होगी या दिन के ग्यारह बजे से शाम के पाँच बजे तक यानी जितने समय पुस्तकालय बन्द रहेगा, वहीं धरना देना होगा ? कि सौ रुपये की नौकरी देने के बदले मैं उनका ऋणी हुआ रहूँ या नहीं ?"²¹

कम वेतन की स्थितियाँ और प्रतिस्पर्धा इस दौर में भी ऐसे हालात को जन्म देती हैं कि आदमी नौकरी के लिये एक तरह से गुलाम बन जाता है, स्वतंत्रता के लिये कुछ बचा ही नहीं रहता। नीलाभजी आनंद को बताते हैं कि हमारे प्रकाशन संस्थान में वेतन बहुत कम है और अन्य सुविधाएँ ज्यादा हैं-- "दरअसल इससे आदमी संचालक की गिरफ्त में रहता है। वेतन कम होता ही है, कोई काम आप अपने नामोल्लेख के साथ कर नहीं सकते, इसलिए आपके यहाँ से भागकर दूसरी जगह जाने के रास्ते बन्द ! क्योंकि एक तो बाज़ार आपकी

उपलब्धियों, क्षमताओं से नावाक़िफ़, दूसरे आपके श्रम की कीमत इतनी कम कि आप बताते शर्माएँ। तब एक ही चारा रह जाता है कि आप यहीं बने रहें। और यहाँ बने रहें संचालक जी की कृपा पर। जिस दिन कृपा कम, सुविधाएँ कम, आपका गुज़ारा नहीं।”²²

भारत के विकास के मॉडल में कल्याणकारी राज्य की संकल्पना और समाजवादी सिद्धान्त की मान्यता को रखा गया था। जिसमें आर्थिक बराबरी राज्य का कर्तव्य था लेकिन योजनाओं को लागू करने की पद्धति ने सम्पत्ति के संकेन्द्रण की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। एक तरफ़ ग़रीबों की फौज खड़ी होती चली गयी दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी आर्थिक संस्थाएँ सम्पत्ति के संकेन्द्रण का अपना वर्चस्व स्थापित करती गईं। यह इनके वर्चस्व की पराकाष्ठा है कि देश की सर्वोच्च संस्था संसद के फैसलों को प्रभावित करने, निर्मित करने का अप्रत्यक्ष अधिकार इन संस्थाओं ने हासिल कर रखा है। विकास के नाम पर बड़ी से बड़ी परियोजना ग़रीबों की आखिरी सम्पत्ति तक को उनसे हड़प लेने की आधारशिला पर नियोजित होती है और उसे लागू करने के लिये राज्य की सरकारें किसी भी तरह का अस्त्र प्रयोग कर सकती हैं। सरकारी पैसे (जनता के पैसे) से बनने वाली सभी योजनाएँ शैक्षिक एवं संरचनात्मक, आर्थिक क्रिया-कलापों में सीधे तौर पर उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचाती हैं जिन्होंने आर्थिक मामलों में वर्चस्व हासिल कर रखा है।

वीरेन्द्र जैन के उपन्यास यह दिखाते हैं कि इस स्थिति की जनता शिकार है उसको दो जून की रोटी मयस्सर नहीं है। भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे उनके अधिकार उन्हें चिढ़ाते से नज़र आते हैं। उनके चरित्रों में यह बात दिखाई देती है कि देश के संविधान और योजनाओं के विपरीत स्थितियों ने देश पर कब्ज़ा कर लिया है।

5.2 राजनीतिक विकास की विसंगतियों का स्वरूप :—

‘वीरेन्द्र जैन’ के उपन्यास देश में पैदा हुई राजनीतिक विसंगतियों के महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। वीरेन्द्र जैन का मुख्य ध्यान स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास के कारण पैदा हुई विभिन्न प्रकार की विसंगतियों को मजबूती से उभारना है ‘डूब’ उपन्यास स्थानीय स्तर पर राजनीति के प्रभावों को दिखाता है। ‘डूब’ एक तरह से ग्रामीण भारत का प्रतिनिधि है। हर प्रकार की राजनीतिक समस्या गाँव में किस तरह पसर रही है यह यहाँ दिखाई देता है।

‘डूब’ उपन्यास की शुरुआत ही एक अजीब विडम्बना से होती है। रघु साव गाँव छोड़ रहे हैं, क्योंकि वे गाँव में सुरक्षित अनुभव नहीं कर रहे हैं। आज़ादी के बाद जो साम्प्रदायिक विद्वेष फैला, उसमें घाटियों के ऊपर रहने वाले मुसलमान भाई मारे गए और मरते-मरते उन्होंने अपने बीच रहने वाले रघु साव का बंटाढार कर दिया। इसलिए रघुसाव गाँव छोड़कर जा रहे हैं। गाँव से जाने वाले को रोकना गाँव का फर्ज बनता है। किन्तु गाँव उन्हें रोक नहीं पाता। ठाकुर देवीसिंह और माते रोकने की कोशिश करते हैं लेकिन उस रोकने में भी एक राजनीतिक दावपेंच दिखायी पड़ता है। होने वाले ‘सरपंची’ के चुनाव में रघु साव का वोट किस ओर जाता, वह चेतना उन्हें रोकने की क्रिया में सजग है। माते, मोती साव और ठाकुर इस चुनाव के लिए तमाम तरह के हथकंडे अपनाते हैं। ‘माते’ के विषय में उपन्यासकार लिखते हैं— “पर वे बिना सिखाए रूख पर चढ़ना सीख कर आए थे। उन्होंने यह बात गाँठ बाँध ली कि अकेले मोती साव के भरोसे नहीं बैठना है। जब तक चुनाव न हो जाएँ, ठाकुर को भी “जै राम जी” की करते रहना होगा। इसीलिए वे तभी से ठाकुर को भी हर काम में, हर मौके पर, टेर लगवाने लगे थे।”²³

इसी प्रसंग में मोती साव के पक्ष में लेखक अपने विचार प्रकट करते हैं—
 “मोती साव ने गणित फैलाया। कितना क्या छोड़ना होगा ? कम—से—कम कितना
 और किसका छोड़ने से वोट बटोरे जा सकते हैं ? अहीरों में तो खैर माते हैं ही,
 और सबसे ज्यादा वोट अहीरों के ही हैं।”²⁴

स्वतंत्रता के बाद हमारी राजनीति कितनी भ्रष्ट एवं स्वार्थपरक हो गयी है।
 इसकी झलक हमें ठाकुर देवीसिंह की सोच में दिखायी देती है— “अब उन्हें मालूम
 था कि वे ऐसी पार्टी के उम्मीदवार होने जा रहे हैं जिसे सदियों तक इस देश पर
 शासन करना है। उन्हें मालूम है कि वोट उसी को मिलेगा जिसकी लाठी में जोर
 होगा। उन्हें मालूम है कि पुलिस, दरोगा उसी को सलाम बजाएँगे, उसी की
 हिफाजत करेंगे जिसके हाथ में ताकत होगी। उन्हें मालूम है कि जब तक अपने
 लठैत, अपना दरोगा, अपने वोटर और अपना सुरक्षित क्षेत्र न हो, तब तक इस
 देश में राजनीति में लंबे समय तक बने रह पाने का स्वप्न नहीं देखना चाहिए।”²⁵

इस उपन्यास की मुख्य कथा आज़ादी के बाद राज्यों के पुनर्गठन के बाद
 के चुनाव से शुरू होती है। गाँव वाले वोट माँगने वाली रानी साहिबा और
 हेलीकॉप्टर को भी पहली बार देखते हैं। चुनाव के समय किए जाने वाले खोखले
 वायदे एवं विकास के सपने लड़ैईवासियों को भी दिखाये जाते हैं। कांग्रेस की
 प्रतिनिधि रानी साहिबा देश के प्रधानमंत्री ‘पं० जवाहर लाल नेहरू’ के सपनों को
 साकार करने के लिए अपने क्षेत्र के लोगों को आश्वासन देती हैं— “मैं चाहती हूँ
 कि इस बेतवा नदी पर, अपने इस लड़ैई गाँव से दस कोस आगे राजघाट पर,
 जहाँ नदी के बीचोंबीच उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमाएँ मिलती हैं, जहाँ
 से पहले चंदैई और ललितपुर जाने के लिए मोटर मिलती थी, वहाँ पर एक
 बड़ा—सा मिट्टी—गारे का बाँध बनवाया जाए। जब वह बाँध बनकर तैयार हो
 जाएगा तो उससे हमारे इलाके को भरपूर बिजली मिलेगी। नए ढंग से खेती हो

सकेगी, जैसी विलायत में होती है। यहाँ के चंदेरी, मुँगावली, गुना और उत्तर प्रदेश के ललितपुर कस्बे में नए-नए कारखाने खुलेंगे। अच्छे मंदरसे खुलेंगे। ऊँची तालीम मिलेगी। और इस तालीम को हासिल करके हमारे-तुम्हारे बच्चे यहीं नौकरी-रोजगार पा जाएँगे।”²⁶

सामंती शोषण के शिकार एवं जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित लडैई की जनता को रानी साहिबा का यह भाषण अजीबोगरीब लगता है, क्योंकि यह सब वे जीवन में पहली बार देख-सुन रहे हैं यह वही इलाका है जहाँ के अधिकांश लोगों ने नकद-कलदार के दर्शन नहीं किए थे, जहाँ सामान खरीदने के लिए आज भी वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित रही है तथा जहाँ के लोग काम के नाम पर बेगार करने के लिए अभिशप्त रहे हैं। फिर भी अपने क्षेत्र की रानी साहिबा के प्रति उनके मन में स्नेह और विश्वास है कि वे उनका उद्धार अवश्य करेंगी।

लेकिन यह श्रद्धा और विश्वास भी सामंती व्यवस्था के संरक्षण और शोषण की संस्कृति के कारण उपजा है। इसमें संरक्षण का भ्रम भी पैदा किया जा सकता है और शोषण का निजाम भी बनाए रखा जा सकता है। यह संस्कृति अंतर्विरोधों को पैना नहीं होने देती। नतीजतन इस संस्कृति के मारे इंसानों को अपने परिवेश और विभिन्न सांस्थानिक शक्तियों की अंतःक्रियाओं का कभी ज्ञान नहीं हो पाता है। चुनाव के हैलीकॉप्टर से रानी साहिबा की लडैई यात्रा के अवसर पर माते और अन्य ग्रामवासियों के उद्गार इस संस्कृति के गहरे प्रभावों को उघाड़ते हैं।

रानी साहिबा वोट माँगती हैं, लेकिन गाँव वालों को कौन समझाए ? लेखक ने महारानी के प्रति लडैई के उद्गारों को सटीक अभिव्यक्ति दी है – “और नहीं

‘तो क्या ! पर बस वही बात कि माता कुंती समान महारानी को परमारथ का रोग लग गया है।’²⁷

इसीलिए महात्मा रूपी माते कहते हैं— “रानी साहिबा, यह शोभा नहीं देता कि आप हमारे दरवाजे पर अपने स्वास्थ्य की खातिर पधारें। वैसे आपको अपने दरवाजे पाकर कौन किरतार्थ नहीं होगा। पर एक तो हम सबरे गाँववारे ऐई से शरम के मारे धरती में गड़े जा रए हैं कि आपका सत्कार करें कैसे, कौन विधि से करें, फिर जा शरम हमें पिछ्याएँ फिर रई है कि आप हम लोगन पे यकीन नई राखत, ऐई सें आप इते तक भगत आई। हमने पैलां भी जो वचन दओ तो, और फिर पूरे गाँव के छितां कौल कर रए हैं कि वोट की खातिर आपको इहाँ आवे की कौनऊँ जरूरत नइयाँ। जब तक हम जिऐँ, जब तक आप, कि आपको कौनऊँ बाल-बच्चा चुनाव में ठाँडो हुइए, इते के सबरे अंडी-बच्चन तक के वोट आपई को मिलें।”²⁸

राजनीतिज्ञों की परम्परा के अनुसार चुनावों के दौरान चरित्रहीनता सामान्य सी बात है, अतः बड़ी आसानी से पलटवार किया जा सकता है कि चुनाव न जीतने के लिए प्रतिपक्षी मनगढ़न्त आरोप लगाकर बदनाम करने की कोशिश करते हैं। वामन कैलाश महाराज सोचते हैं कि— “भला लड़ैई गाँव में माते के रहते चुनाव जीतने का सपना देखना भी कोई सपना हुआ ! नाहक अपनी थू-थू कराने से लाभ क्या ? मगर आज इस बड़ी थू-थू का खयाल आते ही उन्हें वह थू-थू भली लग रही है। थू-थू तो होगी, पर कितना फर्क आ जाएगा तब, यह भी तो सोचो ! जब बेइज्जती होनी ही है तो यों हो। कोई तो आड़ बची रहे निकलने को। बामन महाराज ने फैसला कर लिया कि वे जरूर चुनाव लड़ेंगे। इसके बाद जब पंचायत जुटेगी तो कम-से-कम भरी पंचायत में यह कहकर कलंक से बचने

का अवसर तो मिलेगा कि कैलाश का नाम जानबूझकर घसीटा जा रहा है, ताकि बामन महाराज को बदनाम किया जा सके।”²⁹

उपन्यास के उत्तरार्द्ध अर्थात् ‘तीसरी डुबकी’ में करीब तीस साल इंतजार करने के बाद देश की तत्कालीन प्रधानमंत्री ‘इन्दिरा गाँधी’ राजघाट बाँध की नीव की पहली ईंट रखने के लिए आती हैं। लोगों के कान समाचार सुनने के लिए बेताब हैं। भीतर-भीतर क्षोभ उमड़ रहा है, पर उनकी ओर अफवाहें फेंक दी जाती हैं। फिर उस खाली आसमान में चीलगाडियाँ (हैलीकोप्टर) मंडराती हैं और राजनीति अपना काम करना शुरू कर देती है। जिनकी जमीनें डूब क्षेत्र में हैं, उन्हें कितना मुआवजा मिलेगा, कब मिलेगा ? इन्हीं चिन्ताओं में खोए लोग हांककर नेताओं की सभाओं में ले जाए जाते हैं, जहाँ उन्हें खाली भाषण मिलते हैं। इन्दिरा जी की बड़ी-बड़ी बातों के समक्ष माते का स्वलाप आज़ादी के बाद की सारी विकास योजनाओं की विसंगतियों को हमारे सामने उजागर कर देता है —“हमसे वोट के सिवा तुमने कुछ चाहा है भला ? हमारी जो दशा बनाई है तुमने, उसमें और देने को है ही क्या हमारे पास ? तुम्हारी दी चीज तो तुम हर पाँच बरस पीछे माँग ही लेते हो, कभी मुँह से तो कभी भँड़याई से। हमें खबर भी नहीं देते कि तुमने हमारी चीज बर्ती भी है। इसके सिवा तुमने दिया क्या है। हमें ?”³⁰

माते का यह लम्बा स्वलाप जनमानस के मोहभंग को सूचित करता है। विकास के नाम पर इस पिछड़े क्षेत्र की शेष रह गयी जीवन आशा को भी सरकारी तंत्र समाप्त कर देने के लिए प्रयत्नशील है। इस अमानवीय व्यवस्था में मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी तक अभिशप्त हैं अपनी स्वतंत्रता खोने के लिए। आकाश में मंडराती चीलगाडियों को देखकर माते कहते हैं— “जब-जब आते हैं ये, उस दिन न तो ढोर बछेरु चैन से चारा चर पाते हैं और न दाना-पानी जुटा पाते हैं चिरैया परेबा। पक्षी, जानवर सब भूखे रहते हैं उस दिन। वे बेजान, जो न किसी

के लेने में, न देने में। भगवान का दिया पेट, भगवान का दिया चारा—पानी। तब भी भूखे रहने को विवश ये मूक प्राणी !”³¹

हर पाँच साल बाद राजनीति ऐसी ही करवट लेती है और फिर गाढ़ी नींद सो जाती है। लेकिन लोगों की आँखों में नींद कहाँ, चैन कहाँ ? मोती साव, हीरा साव और निर्मल साव जैसे लोगों ने वृद्धि का एक सशक्त प्रतीक चुना है चीलगाड़ी। चीलगाड़ी को माते एक अशुभ और असगुन का पूर्वाभास मानते हैं। हर बार, किसी सरकारी लूट—चाल के पहले लेखक वर्णन करता है—“फिर मंडरा रही है चीलगाड़ी आसमान में !”³² और सचमुच यह चीलगाड़ी किसी विकास या आधुनिकता का प्रतीक नहीं, मौजूदा शासन तंत्र की अनैतिक बुद्धि के कारण वह समाज पर गिद्ध दृष्टि लगाए, उसका सब—कुछ हड़पने को ललक रहे औपनिवेशिक प्रशासन—तंत्र की प्रतीक है।

स्वाधीनता के बाद राजनीतिज्ञ और प्रशासनिक अधिकारियों में निहित शोषण की वृत्ति के कारण प्रशासन का काम लोगों तक पहुँचता ही नहीं, उल्टे कानून और अधिकारों का सहारा लेकर लोगों को त्रस्त किया जाता है और उनका शोषण भी किया जाता है। लेखक ने इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है—“कैसी अँधेरनगरी और कैसा चौपट राज आया है यह ! जिन सरकारी मुलाजिमों का काम सरकार की हिफाजत करना, जनता की सेवा करना होना चाहिए, वही सरकार के पाँव कुतर रहे हैं। उसके खजाने में बरकत करने की बजाय उसके खजाने पर डाका डाल रहे हैं। उसकी जनता का खून चूस रहे हैं। कानून का भय दिखाकर गैरकानूनी काम कर रहे हैं। जिनका फर्ज है सरकार को जनता की भलाई के उपाय सुझाना, वे ऐसे काम सुझा रहे हैं जो सदियों में भी पूरे न हों।”³³

उपन्यास में सर्वत्र 'माते' एक प्रश्न पूछता है उस विकास से क्या फायदा जो मनुष्यों को उखाड़ दे, बेघरवार कर दे, उन्हें गलत जगह रोप दे, उनकी सहजात इच्छाओं को रौंद दे ? सरकार लाबरी है। उसे क्या हक है कि वह शांत ग्राम्य जीवन में उपद्रव करे, नदी की दिशा बदले। कितनी जनहानि, धनहानि है, कहीं दूर बैठी सरकार फैसला करती है, और कहीं दूर बैठे गरीब लोग उजड़ने लगते हैं। तो आखिर बाँध क्यों बनें ? और यदि बाँध बनाया ही जाना है तो क्या गाँव के निवासियों के दिलों को भी वह बाँध सकता है जो अपने उजड़ने से टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं ? यह विकास लीला है या विनाश लीला।

एक तरफ विकास दूसरी तरफ उखड़ना, उखाड़ दिया जाना और गलत जगह पर रोप दिया जाना। यह वह विसंगति है जिसको इस अध्याय की केन्द्रीय वस्तु कहा जा सकता है। प्रतीक रूप में इस उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप में देशभर में तरह-तरह से यही स्थितियाँ पैदा हुई हैं। आर्थिक कारणों से, शैक्षिक कारणों से मुख्य रूप में विकास के जो प्रतिमान देश के सामने रखे गये हैं, जिन नगरों के सभ्यता रूपों का विकास देश में हुआ है उन्होंने समाज के विभिन्न तबकों को एक स्थान से उखाड़ा है और दूसरे स्थानों पर रोप दिया है। समाज में पैदा हुई तमाम तरह की अजीब सी लगने वाली बातें जिन्हें अपसंस्कृति और कुसंस्कृति के नाम से चिन्हित किया जाता है सब ऐसे ही विकास की देन हैं।

'डूब' का नायक 'माते' शुरू से अंत तक बौखलाया हुआ एक ही सवाल करता है। गाँव के गरीबों के जीवन का सत्य, सच है या सत्ता ? सत्ता के प्रतीक रेडियो को उपन्यास के आखिर में वह वट-वृक्ष के तने पर दे मारता है और रेडियो सत्ता का सच कहने लायक नहीं रहता। वह उसी पानी में डूब जाता है जो 'डूब' क्षेत्र को डुबोने आया है। माते के दांत में जो सुपाड़ी शुरू में फंसी है वह आखिर तक निकलती नहीं, यह विकास की सुपाड़ी है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध

आलोचक 'डॉ० सुधीश पचौरी' का मानना है कि — “डूब की खासियत यह है कि यह विकास की अब तक चली आती अवधारणा और उपलब्धियों पर ही प्रश्न चिह्न लगाता है। माते की घृणा जिसमें यह चरित्र प्रायः डूबा रहता है, विकास के मानव विरोधी रूप को धिक्कारता है। एक भूमि पुत्र की तरह ‘वह जैसा भी है, जहाँ भी है उसे वहीं रहने दो’ की विकल प्रार्थना करता रहता है। सब चले जाते हैं शहर। जो नहीं जाते या जो नहीं जा सकते, वे सब माते ही हैं जो कहते हैं : हमें नहीं चाहिए तुम्हारा यह विकास।”³⁴

राजनीति का इस्तेमाल आधुनिक सन्दर्भों में भी हो सकता है और परम्परागत अर्थों में भी। आधुनिक सन्दर्भों में जिसे राजनीतिक कहा जाता है उस माइने में ‘पार’ के लोग राजनीतिक नहीं हैं, पर जीवन को जीने के लौकिक सत्ता के आयामों में वे भी राजनीतिक हैं। इस प्रकार के वर्चस्व की ऐसी लड़ाई जिसने ‘पार’ के लोगों की अपनी राजनीतिक चेतना को ध्वस्त करके केन्द्रीय सत्ता के राजनीतिक आयामों को जीत दिलाई है। राजनीतिक सत्ता के मामले में वे बिल्कुल से मार खाते हुए से दिखते हैं।

समाज में घटित होने वाले सभी कार्य-व्यापारों के ऊपर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक दबाव रहता है। इसी अर्थ में ‘पार’ धर्मतंत्र, राजनीति, अर्थतंत्र तथा प्रशासन के सामूहिक शोषण से उजड़ते गाँव का इस्पाती दस्तावेज होने का हकदार बन जाता है। राजनीति का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से समाज के वर्चस्ववादी लोगों से है। प्रशासन भी अन्ततः इन्हीं की मर्जी के अनुसार कार्य करता है। चाहकर भी वे अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं कर पाते। यही कारण है कि समाज में जो वर्ग आर्थिक रूप से सम्पन्न है, वह समाज के राजनीतिक वर्चस्व की ओर भी बढ़ने का प्रयास करता है। परिणाम यह होता है कि धर्म, अर्थ, प्रशासन, राजनीति में कुछ लोगों का ही दबदबा बना रहता है। शेष लोग तो इनकी

कारगुजारियों को भोगने के लिए अभिशप्त हैं। सभी योजनाओं व नीतियों का निर्धारण व कार्यान्वयन इन्हीं की फाइलों और दफ्तरों से होता है। अतः विकास हेतु निर्धारित नीतियाँ विपरीत परिणाम देती हैं।

उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश दोनों राज्यों के सांसद और विधायकों ने अपने वोट बैंक की खातिर राजघाट बाँध के 'निकास जल' का उपयोग करने के लिए नहरों को भी बनने नहीं दिया। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है— "सुनने में यह भी आया कि दोनों प्रदेशों की नहरें इसलिए नहीं बन पाई क्योंकि दोनों प्रदेशों के इस क्षेत्र से खासे दूर के सांसद और विधायक चाहते हैं कि नहर उनके क्षेत्र तक बनाई जाए। यानी यहाँ के पानी का लाभ यहीं के लोगों को नहीं, उनके क्षेत्र के लोगों को मिले। इससे निर्माण व्यय बढ़ता है तो बढ़े, यहाँ समस्याएँ ज्यों-की-त्यों रहती हैं तो रहें, उनकी बला से। उन्हें अपने क्षेत्र के मतदाताओं की खुशहाली से सरोकार है। उन्हें अपने क्षेत्र में वाहवाही लूटने से मतलब है।"³⁵

'पार' उपन्यास में विकास की नीतियों की विसंगतियों को दिखाया गया है। लडैई गाँव तथा आदिवासी समाज के लोग न तो 'राजनीति' का ज्ञान ही रखते हैं और न ही 'राजनीति' करते हैं। इन लोगों के लिए आज़ादी के इतने सालों बाद भी 'सरकार' एक अजूबा चीज है। 'डूब' उपन्यास में लेखक ने यह अवश्य दिखाने का प्रयास किया है कि लडैई के माते राजमाता के चुनाव प्रचार के लिए हैलीकॉप्टर से जाते हैं। यानि माते जैसे एकाध लोग 'राजनीति' की थोड़ी बहुत समझ रखते हैं : 'रेणु' के पात्रों की तरह 'वीरेन्द्र जैन' के पात्र राजनीति नहीं करते हैं। इनके पात्र बस राजनीतिक गलियारों में घटित सडांध को ही जीने के लिए विवश हैं। इनकी राजनीतिक चेतना का स्तर न के बराबर है। 'डूब' में जो राजनीतिक हलचल चलती है वह 'पार' में नहीं है। वस्तुतः राजनीतिक हलचल गाँव के स्वास्थ्य को डिस्टर्ब कर रही है। 'पार' गाँव में इसी बदलती फ़िजा का

चित्र है। जाहिर है कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े रहने के कारण इनकी राजनीतिक चेतना भी पिछड़ी हुई है।

लेखक 'पार' के माध्यम से यह कहना चाहता है कि इन सब स्थितियों के लिए जिम्मेदार कौन-कौन हैं। उन्हें पहचानने की कोशिश की जाए। वे अपने पात्रों को दृष्टिभर देते हैं, भाषा नहीं। दोस्त और दुश्मन की पहचान करनी होगी। 'पार' का यही कथ्य है, इसी प्रकार किसी भी समाज का सर्वांगीण विकास तभी होता है जब समाज के सभी हिस्सों में संतुलित रूप से विकास के प्रयास किये जायें, असंतुलित विकास के कारण 'पार' के लोग अपनी बदहाली से जूझने की शक्ति नहीं अर्जित कर पाए हैं। वे अभी भी रामदुलारे से आशा करते हैं कि वह उनका संकट मोचक सिद्ध होगा। बड़े ही आश्चर्य के साथ वे ग्रामीण लोग कहते हैं कि वे शहर में सरकार के साथ रहते हैं।

देश की राजनीति, राजनीति नहीं रह गयी। व्यवसाय बन गयी है। निजी लाभ के लिये इसका खूब इस्तेमाल किया जाता है। देश के नेता जब पदों पर पहुँचते हैं तो उनके कारनामे देश की भलाई के लिये नहीं कुछ और ही उद्देश्य से जुड़ जाते हैं। इसी तरह का एक प्रसंग 'शब्द-बध' में आता है जहाँ— "सन्तजी के राज्य के मुख्यमंत्री ने अपने शोक सन्देश के साथ ही ग्रंथावली की पाँच सौ प्रतियाँ खरीदने की घोषणा कर दी मय कुल भुगतान अग्रिम करने के आश्वासन के साथ।"³⁶

देश की राजनीति ने किताबों को क्या बना दिया देखा जा सकता है किताब अब ज्ञान के लिये नहीं हैं लाभ कमाने के साधन के लिये हैं लाखों प्रतियाँ सरकारी खजाने से इसलिये नहीं खरीदी जाती कि वे मूल्यवान हैं इसलिये खरीदी जाती हैं कि वे किसी को आर्थिक लाभ पहुँचाना चाहती हैं अथवा कोई राजनीतिक

लाभ उनसे मिलने वाला है— “दरअसल आपात्काल समर्थित किताब के पूरा होते-न-होते न केवल आपात्काल बल्कि कांग्रेस शासन तक का अन्त हो गया इसलिए उस किताब की एक लाख प्रतियाँ अभी भी गोदाम में सड़ रही थीं, जबकि दूसरी किताब को, जिसे कांग्रेसी शासन के दौरान जानबूझकर प्रसारित होने से रोककर रखा गया था, जनता पार्टी के शासन में आते ही बड़े जोर-शोर से वितरित किया गया था।”³⁷

राजनीतिक घुसपैठ कार्यपालिका में भी हो गयी है, कार्यपालकों की नियुक्तियों से लेकर तबादले तक राजनीतिक फायदे के लिये किये जाते हैं। ‘सबसे बड़ा सिपहिया’ उपन्यास में आनंद नामक पत्रकार आरोप लगाता है कि आई0जी0 साहब हमेशा एक पार्टी विशेष के लिये पुलिस का इस्तेमाल करते रहे हैं। वह यह सम्भावना भी व्यक्त करता है कि— “आई0जी0 साहब को निकट भविष्य में ऐसे प्रदेश में पुलिस-प्रमुख बनाकर भेजा जाने वाला है जहाँ पिछले दिनों तक एक क्षेत्रीय पार्टी सत्ता में थी और जहाँ आजकल राष्ट्रपति शासन है। पत्रकार को अंदेशा है कि आई0जी0 साहब को वहाँ भेजे जाने की वजह है उनका केन्द्रीय सत्ता पार्टी का ‘खास’ होना ताकि वहाँ पार्टी के पक्ष में माहौल तैयार हो सके।”³⁸

जनतंत्र की सबसे बड़ी सफलता होती है नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों के प्रति शिक्षित करना। उन्हें वास्तव में नागरिक बनाना। सभ्य समाज में नागरिक अधिकारों के लिये विशेष प्रावधानों को सदैव स्थान दिया गया। दुनिया भर के संवैधानिक विकासों में यह बात शामिल रही कि सत्ता लोगों के नागरिक अधिकारों का हनन न करने पाए। भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों में इसी बात को दोहराया गया। लेकिन विकास के स्वरूप और सशक्तीकरण की प्रक्रिया ने तरह-तरह से इन राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का हनन किया। जो

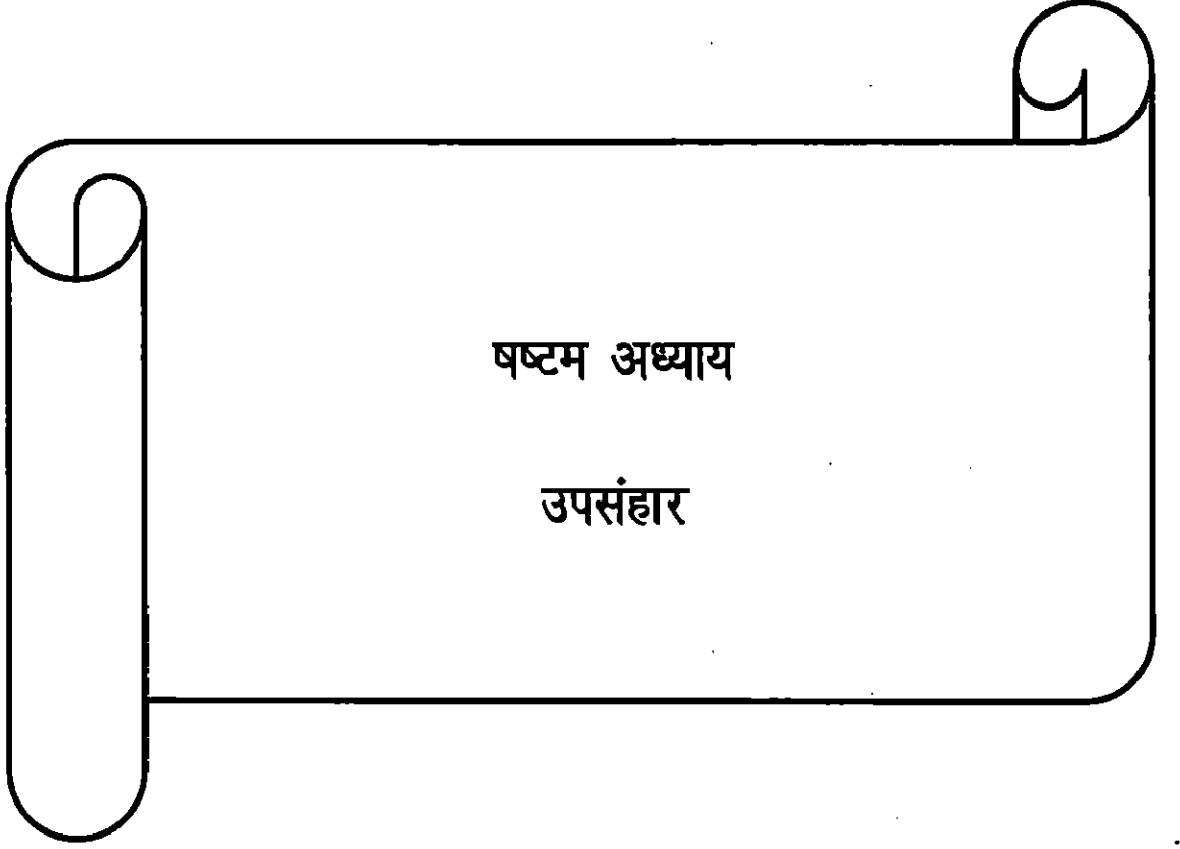
संस्थाएँ एक तरफ नागरिक अधिकारों के संरक्षण के दायित्व से बँधी हैं उनके लागू करने की प्रक्रिया इसका उल्टा करती है। यह आधुनिक भारत की बड़ी विसंगति है।

वीरेन्द्र जैन के इन उपन्यासों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जनता राजनीतिक विकास से अपने आपको उगा हुआ और लाचार महसूस करने लगी है। उसके लिए लोकतंत्र, स्वतंत्रता और विकास के माइने हैं— अरिस्टोक्रेसी, दासता और जड़ों से उखाड़ फेंक दिया जाना। पुरानी कबीलाई राजनीतिक संस्थाएँ अपने बदले हुए रूप में आज भी कायम हैं न जाने कब इससे निजात मिलेगी। यही हताशा कहीं न कहीं वीरेन्द्र जैन के विभिन्न चरित्रों में दिखाई देती है।

सन्दर्भ

1. वीरेन्द्र जैन : डूब, पृ० 66
2. वही, पृ० 67
3. वही, पृ० 76
4. वही, पृ० 108
5. वही, पृ० 180
6. वही, पृ० 130
7. वही, पृ० 191
8. वही, पृ० 191—192
9. वही, पृ० 24
10. वही, पृ० 230
11. वही, पृ० 238
12. वही, पृ० 255
13. वीरेन्द्र जैन : पार, पृ० 71—72
14. वही, पृ० 30
15. वही, पृ० 30
16. वही, पृ० 124
17. वही, पृ० 133
18. वीरेन्द्र जैन : पंचनामा, पृ० 16
19. वही, पृ० 240—241
20. वही, पृ० 242
21. वीरेन्द्र जैन : शब्द—बध, पृ० 25

22. वही, पृ० 40
23. वीरेन्द्र जैन : डूब, पृ० 13
24. वही, पृ० 18
25. वही, पृ० 39
26. वही, पृ० 62
27. वही, पृ० 62
28. वही, पृ० 61
29. वही, पृ० 89
30. वही, पृ० 181
31. वही, पृ० 180
32. वही, पृ० 212
33. वही, पृ० 245
34. सुधीश पचौरी, कथा भाषा, पृ० 10
35. वीरेन्द्र जैन : पार, पृ० 128
36. वीरेन्द्र जैन : शब्द—बध, पृ० 146
37. वही, पृ० 153
38. वीरेन्द्र जैन : सबसे बड़ा सिपहिया, पृ० 123



षष्ठम अध्याय

उपसंहार

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य समाज और राजनीति के प्रति अधिक जागरूक साहित्य है। साहित्य के प्रयोजन के रूप में अब न तो स्वान्तः सुखाय का मूल्य रह गया है और न ही सत्चित आनन्द कोई मूल्यवान विचारधारा मानी जाती है। 'मुक्तिबोध' ने इस अवधारणा के स्थान पर सत्चित वेदना की अवधारणा को अधिक मूल्यवान माना था। स्वतंत्रता के बाद का साहित्य विशेषकर साठ के बाद की समस्याओं और विकास की गति पर पैनी नज़र रखकर लिखा गया। मोहभंग की स्थिति काफी दिनों तक साहित्य में दिखाई देती रही। इसी कड़ी में 'वीरेन्द्र जैन' ने नब्बे के बाद में देश के विकास का पुनरावलोकन किया। 'वीरेन्द्र जैन' ने विकास के प्रत्यक्ष मॉडलों चाहे वह आर्थिक विकास के मॉडल हों, सामाजिक विकास की दिशा हो, राजनीतिक विकास के प्रारूप हों अथवा शैक्षिक विकास के मसले हों सब पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। 'वीरेन्द्र जैन' ने तो साहित्य और प्रकाशन जगत की विसंगतियों को भी अपने साहित्य में उठाया।

विकास और विसंगति बेहद प्रासंगिक सवाल थे, किसी भी नीति पर जब तक सवाल न उठाये जायें तब तक उसमें सुधार की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। एक सचेत साहित्यकार का यह दायित्व होता है कि समय के अनुसार अपनी राय जाहिर करे। इस बात को भी आज़ादी के बाद से ही उठाया जाने लगा था कि – "जो तटस्थ है समय लिखेगा उनका इतिहास।" वीरेन्द्र जैन ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह साफ कर दिया कि वे तटस्थ रचनाकार नहीं हैं पक्षधर रचनाकार हैं। कम से कम व्यवस्था के पक्ष में वे बिल्कुल नहीं हैं।

विकास के मसले से मुखातिब होते हुए उन्होंने दिखाया कि ये बड़ी-बड़ी विकास परियोजनाएँ जिनको इस आधार पर खड़ा किया जाता है कि ये देश के विकास में मील का पत्थर साबित होंगी, वास्तव में देश को पुनर्परिभाषित करने की

माँग रखती हैं। जिस देश का विकास इन परियोजनाओं से होगा वह गरीबों, श्रमिकों, किसानों का देश नहीं है। प्रतीक रूप में यह तो 'डूब' क्षेत्र है इसमें जनता को डूब जाना है। यदि हमें भारत के अब तक के विकास के प्रतिमान को स्वीकार करना है तो 'डूब' क्षेत्र में डूबने के लिए तैयार रहना चाहिए। 'डूब' क्षेत्र का पुनर्वास देश की आम जनता का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पुनर्वास है। यह उसकी अपनी जड़ों को खोकर आयातित या विदेशी तरह का ही मिलेगा। इससे देश का कितना भला होगा यह एक सवाल है। 'वीरेन्द्र जैन' ने प्रकारान्तर से यह कहने की कोशिश की कि विकास के ये मॉडल कारगर नहीं हैं। विकास के ऐसे मॉडल लागू किये जाने चाहिए जिसमें देश की जनता की भागीदारी हो और निश्चित भूमिका हो, कम से कम उसकी जिन्दगी 'डूब' क्षेत्र में न आ जाय।

वीरेन्द्र जैन ने इसी तरह का नज़रिया राजनीतिक विकास के मॉडल के प्रति रखा। देश की जनता के पास पहुँचने वाला लोकतंत्र वह नहीं है जो लोकतंत्र की सबसे बड़ी किताब में सुरक्षित है। दिल्ली से दूर देहात तक की उसकी यात्रा, उसकी तस्वीर बदल देती है। वोट का वही मतलब गाँव में नहीं रह जाता है जिस पर राजनीतिक सदन में बहस होती है, जिसे कानून की राय में वोट कहा जाता है। ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति है कि न तो इस वोट का समर्थन करते बनता है और न ही विरोध। यह ऐसी राजनीतिक सत्ता का निर्माण करता है जो अपने कार्यकाल पर इस देश की जनता के सपनों को दीमक की तरह निगलती रहती है।

'वीरेन्द्र जैन' का 'डूब' उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत में अपनायी गयी विकास योजनाओं की विसंगतियों और उससे उत्पन्न विस्थापन की समस्या को

केन्द्र बनाकर लिखा गया है। जिसमें लेखक ने मध्य प्रदेश के एक पिछड़े अंचल में बड़े बाँधों द्वारा विकास के नाम पर की जा रही विनाश की कथा को एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। बड़े बाँध केवल आर्थिक विकास के लिए उठाया गया वैज्ञानिक प्रगतिशील चरण नहीं होता, वह एक संस्कृति संहारक दैत्य का विनाशक कदम भी है। बड़े बाँध की मूल संकल्पना से लेकर उसके पूरे सम्पन्न होने तक एक भयावह संकट से लोक-जीवन तबाह होता है।

उपन्यासकार ने बाँध-निर्माण से उठने वाली समस्या, 'डूब' क्षेत्र में डूब जाने वाली मनुष्यता, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और वहाँ रहने वाले आदमी की त्रासदी का भयावह चित्र खींचा है। इनमें से न जाने कितने व्यक्तियों को पानी में डूबना पड़ता है और कितने बाँध-निर्माण की वजह से यंत्रणाओं, यातनाओं और भूख के पारावार में खत्म हो जाते हैं। इसका कोई हिसाब-किताब किसी सरकार के पास नहीं होता क्योंकि सरकार 'डूब' क्षेत्र को बीसियों साल पहले डूबा हुआ मानकर सो जाती है। वहाँ रहने वाले लोगों को जीवित मनुष्य मानना छोड़ देती है। 'वीरेन्द्र जैन' ने अपने इस उपन्यास द्वारा पिछड़े एवं आदिवासी क्षेत्रों में विकास के नाम पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध जन-जागरण का शंखनाद फूँका है, जो बताता है कि मनुष्य को भूलकर मनुष्य के लाभ के लिए किया जाने वाला हर काम मनुष्य विरोधी है।

आजादी के बाद भारत में विकास के लिए पश्चिमी मॉडल पर आधारित जिन उद्योग-धन्धों का विकास किया गया, वह हमारे देश की आवश्यकता एवं स्थितियों के प्रतिकूल था। अंग्रेजों के जाने के बाद औपनिवेशिक मानसिकता वाले लोगों के ही हाथ में इस देश की बागडोर थमा दी गई। ये लोग अपनी जड़ों से कटे हुए तथा आम जनता की जमीनी जरूरतों से अनभिज्ञ थे। परिणामस्वरूप

विकास की हड़बडी में उन्होंने उसी पश्चिमी साम्राज्यवादी औद्योगिक मॉडल को अपना लिया जो प्रकारांतर से इस देश की आम जनता के शोषण एवं बदहाली का प्रमुख कारण रहा है। इन्हीं बड़े उद्योग-धंधों की एक कड़ी के रूप में हमारे यहाँ वृहत बाँध-योजना शुरू की गई, जिसके तहत सरकार ने विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों जैसे— जमीन, जंगल, तालाब, नदियों आदि का अधिग्रहण करना शुरू किया। इसके कारण एक बहुत बड़ी जनसंख्या को अपने घर, परिवार, जमीन एवं जीविका के साधनों से वंचित होकर विस्थापन के लिए मजबूर होना पड़ा। आज़ाद भारत में अपनायी गयी विकास योजनाओं की विसंगतियों की झलक हमें इस युग के साहित्य में भी दिखायी पड़ती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् जिस मिश्रित अर्थव्यवस्था को लागू किया गया था, उसके मूल में ही वर्गीय हित शामिल था। यह हित देश के कुछ परिवारों से जुड़ा था और इसका कारण नीतियों को लागू करने वालों का दलाल चरित्र था। परिणाम भारतीय जनता को भुगतना पड़ता है और विकास की जिस असंगत पीड़ा का भार 1947 से आरम्भ होता है, वह आज तक बढ़ता चला आ रहा है। तभी लेखक 'वीरेन्द्र जैन' भी 'पार' उपन्यास में नेहरू, इन्दिरा या राजीव के सपनों का भारत नहीं चाहते, वे तो माते, रामदुलारे के सपनों का भारत चाहते हैं।

'पार' उपन्यास के सन्दर्भ में विसंगतियों का सामान्य विश्लेषण करते हुए रचनाकार की मान्यता को भी स्थान दिया गया है। वस्तुतः रचनाकार विकास के विरोध में नहीं है। लेकिन विकास के उस रूप का विरोधी जरूर है जिसमें एक छोटा वर्ग तो फलता-फूलता है लेकिन एक बड़ा वर्ग त्रासद स्थिति को पहुँचता है। इस उपन्यास में यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि सवाल हर उस जगह हैं— जहाँ विकास के नाम पर कार्य हो रहे हैं। लेकिन सवालों को

जनता तक लाने का कार्य न मीडिया कर रही है और न ही सरकार। पीड़ित व्यक्तियों के लिए कोई जगह नहीं है और अफसरों के लिए अभयारण्य बनाया जा रहा है। यह केवल एक गाँव की नहीं सारे भारत की कथा है।

इसी सामान्य विश्लेषण के तहत यह प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि मुआवजे की राशि हमेशा उसे मिलती रही है जो इसके हकदार कम हैं और उनको छोड़ दिया गया है, जो सबसे ज्यादा प्रभावित रहे हैं। यही कारण है कि उपन्यास में आये संकेत भोपाल गैस कांड और दिल्ली में हुए सिखों के कत्लेआम की ओर इशारा करते हैं। इनके लिए भी अभी तक कुछ नहीं किया गया। होगा क्यों ? सत्ता का चरित्र जब तक अमानवीय हो, तो ऐसा संभव ही नहीं है। तभी लेखक शिक्षा, सड़क और संगठन की आवश्यकता महसूस करता है।

सत्ता की संस्कृति के अपने तर्क होते हैं। आदिवासी और ग्रामीण समाज विकास के लिए अपना रहन-सहन, आचार-व्यवहार तो बदल रहे हैं। लेकिन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से अभी भी ग्रस्त हैं। इसी में रहने में सत्ता पक्ष की भलाई है। यही कारण है कि जितना बदलना चाहिए उनके स्वार्थ के लिए, वे उतना ही बदलना चाहते हैं। यह भी वही निर्धारित करते हैं कि बदलने का स्वरूप क्या हो।

अनाथ बेटे-बेटियों के परिवेश को अनाथ आश्रम के संदर्भ में रेखांकित करता 'पंचनामा' उपन्यास हालाँकि एक पारम्परिक और आदर्शवादी नायक की छवि ही प्रस्तुत करता है, लेकिन उपन्यास समाप्त होने से पहले बहुत दूर तक यह पंचनामा न तो किसी नायक का है और न किसी एक अनाथ का, बल्कि यह पंचनामा है उस समाज का जो अनाथ का दर्द नहीं समझ पाता; और है उस

व्यवस्था का जिसने अनाथ आश्रम जैसी संस्थाओं को जन्म दिया है। उस प्रशासनिक ढाँचे का जो अनाथ आश्रमों का प्रबंध संभालता है।

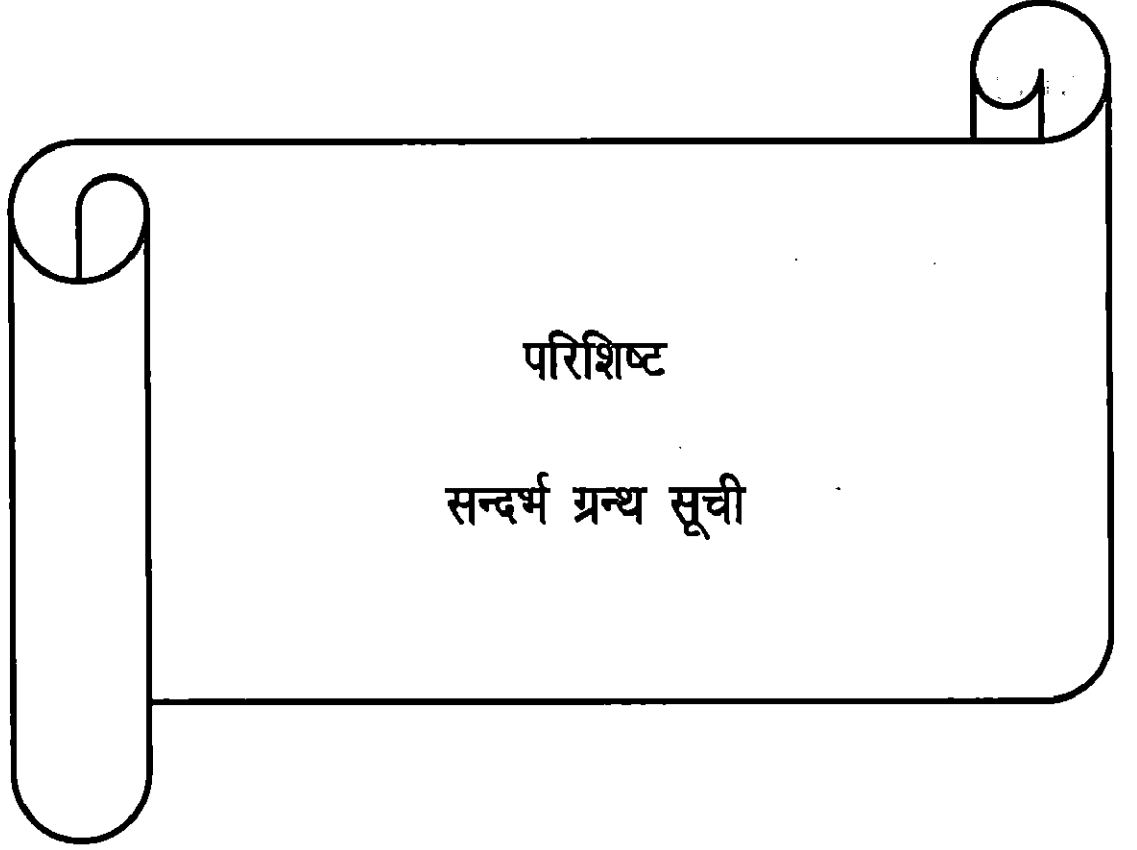
इस संदर्भ में बहुत सारे सवाल उठते हैं: किसी भी आश्रम की पहली जरूरत क्या है— दया, कृपा, सहानुभूति अथवा स्नेह, आत्मीयता, बंधुत्व और ममत्व ? यह अहसास कि वह लाचार नहीं है या यह बोध कि वह हमेशा किसी दानी का शुक्रगुज़ार बना रहे ? वह दो जून रोटी खाकर अपने पेट को शांत कर ले और आँखों में भूख लिये फिरता रहे, या वह पाये कि जीवन का दूसरा नाम है स्वाभिमान और रोटी का मतलब है उसका हक। उपन्यास में दसियों अनाथ बच्चे अपनी तमाम परिवेशगत अच्छाइयों, बुराइयों, शरारतों, नेकियों, शराफत, गुस्से और प्यार के साथ अपनी तरफ ध्यान देने को बाध्य करते हैं। उन्हें अपनी नेकी के सिले की चिंता नहीं है तो उद्दंडता के प्रति कोई शर्मिंदगी भी नहीं। वे अभाव से प्यार नहीं करते, अभाव में रह रहे हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का यह उपहार हमारा सामना किस पीढ़ी से करवाएगा ? दरअसल, ये तमाम बातें कहने की नहीं, सोचने की हैं। और नई पीढ़ी के प्रतिष्ठित उपन्यासकार 'वीरेन्द्र जैन' का यह उपन्यास सोचने का भरपूर अवसर अवश्य देता है।

'शब्द—बध' उपन्यास लेखक और प्रकाशक के बीच के रिश्तों की कहानी है, जिसे लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर उस भोगे हुए यथार्थ को प्रस्तुत किया है, जिसकी त्रासदी उसे शोषित समाज की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है और प्रकाशक को एक शोषक के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। संभव है इस उपन्यास के माध्यम से लेखक का समूची व्यवस्था की बखिया उधेड़ने का प्रयास रहा हो, किन्तु उपन्यास 'शब्द—बध' मूलतः प्रकाशन व्यवसाय की स्थिति और खासकर हिंदी साहित्यिक प्रकाशन उद्योग की स्थिति को बेनकाब करने की जंग लड़ता ज्यादा दिखाई देता है।

इस उपन्यास में प्रकाशन व्यवसाय पर लांछन लगाने की नहीं, इस और ऐसी मानसिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगाने की कोशिश की गई है। किताबों का पाठ्यक्रमों में लगाया जाना, उनकी खरीद-बिक्री, लेखक को उसका देय न मिलना, रॉयल्टी फ्री पुस्तकों और रचनावली परम्परा पर छाए धुँधलकों आदि ज्वलंत विषयों को लेखक ने रोचक प्रसंगों के साथ जोड़कर रचा है। अतः लेखक का कहना है कि इस उपन्यास के बहाने यदि लेखक-प्रकाशक संबंधों और घासलेटी साहित्य के प्रकाशकों के आचरण पर कुछ सुगबुगाहट उत्पन्न हो, तो आज के साहित्य की दिनोंदिन लस्टम-पस्टम होती जा रही हालत को कुछ सुधार का अवसर मिल सकता है।

‘वीरेन्द्र जैन’ के उपन्यास ‘सबसे बड़ा सिपहिया’ में उनका कथानायक आनंदवर्धन, एक प्रतिष्ठित पत्रिका समूह में पत्रकार होने के बावजूद, एक सामान्य नागरिक के बतौर, अपने घर में हुई चोरी के बहाने, पुलिस महकमे के सम्पर्क में आता है। वहाँ उसे वैसे ही तल्ख अनुभवों के बीच से गुज़रना पड़ता है, जो पुलिस के सम्पर्क में किसी भी सामान्य नागरिक की नियति माने जा सकते हैं। जिद और कट्टर आदर्शवादिता पर अड़ जाने के बाद तो उसका पत्रकार वाला चोला भी उसके व्यक्तित्व की हिफाजत नहीं कर पाता। खैर, हमारे पुलिस महकमे का सत्य तो इससे भी ज्यादा क्रूर और भयानक है, जिसके लिए किसी साहित्यिक कृति के बजाय रोजमर्रा की अखबारी खबरें अपेक्षाकृत अधिक सटीक कसौटी साबित हो सकती हैं। फिर भी, ‘सबसे बड़ा सिपहिया’ को इसलिए खासतौर से रेखांकित किया जाना चाहिए कि जिस महकमे पर देश में कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी है, उसके गैर-जिम्मेदाराना और व्यक्तिद्रोही स्वरूप को सार्वजनिक बनाने की, क्षीण ही सही, एक कोशिश इस उपन्यास के माध्यम से की गई है।

अतः कहा जा सकता है कि देश के विकास का स्वरूप जनता की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। उनकी मानसिक और सांस्कृतिक स्थितियों को छिन्न-भिन्न करने वाला है, साथ ही इन स्थितियों का समुचित विकल्प भी उसके पास नहीं है। हिन्दी साहित्य की संवेदनशीलता अपना दायित्व निभाते हुए इसे अपना विषय बनाने में अपनी महती भूमिका अदाकर रही है। इस माइने में यह जनता के भीतर सांस्कृतिक संवेदनशीलता का विकास करने का काम कर रही है वीरेन्द्र जैन ने भारतीय समाज में पायी जाने वाली प्रत्येक समस्या को सामने रखकर, अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उसका चित्रण प्रस्तुत किया है और उसके समाधानों की दिशाओं की ओर भी इंगित किया है।



परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रंथ

वीरेन्द्र जैन :-

1. सुरेखा-पर्व (पहला सप्तक), आत्माराम एण्ड संस दिल्ली, 1998
2. अनातीत (पहला सप्तक), आत्माराम एण्ड संस दिल्ली, 1998
3. शब्द-बध, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली तृतीय संस्करण 1997
4. सबसे बड़ा सिपहिया, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 1995
5. तलाश (पहला सप्तक), आत्माराम एण्ड संस दिल्ली, 1998
6. डूब, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1998
7. पार, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1998
8. पंचनामा, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 1996

सहायक ग्रन्थ

1. अर्जुन देव : सभ्यता की कहानी, प्रथम भाग (N.C.E.R.T.)
2. ए०आर० देसाई : भारत का विकास मार्ग, मार्क्सवादी दृष्टि, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1989
3. आर्चुरो एस्कोवर : 1988
4. आचार्य दुर्गादास बसु : भारत का संविधान, एक परिचय, (अनु० ब्रजकिशोर शर्मा) लेक्सिस, नेक्सिस बटरवर्थस वाधवा नागपुर, नौवां संस्करण 2009
5. एलेन स्विंजउड : मार्क्स तथा आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त, मैकमिलन प्रैस मद्रास, 1979
6. अभय कुमार दुबे : भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
7. बर्टेल आलमैन : एलियनेशन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली
8. बिपन चंद्र : आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा० लि०, दिल्ली।
9. सी०पी० आई०एम० : मार्क्सिस्ट फिलॉस्फी और राजनीतिक अर्थशास्त्र
10. चौ० चरण सिंह : भारत की आर्थिक नीति
11. क्रिस्टोफर कॉडवेल : विभ्रम और यथार्थ (अनु० भगवान सिंह), राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
12. डॉ० देवराज : भारतीय संस्कृति, हिंदी समिति विभाग, लखनऊ (उत्तर प्रदेश), संस्करण 1959
13. डॉ० सुवीरा जायसवाल : वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी प्रा०लि० दिल्ली, सं० द्वितीय 1996

14. डॉ० हृदय नारायण मिश्र : समाज दर्शन : सैद्धान्तिक एवं समस्यात्मक विवेचन, शेखर प्रकाशन इलाहाबाद, 1997
15. डॉ० गणेश पाण्डेय : भारतीय सामाजिक समस्याएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2003
16. डॉ० बसन्ती लाल बाबेल : भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, षष्ठम संस्करण, 2003
17. डॉ० जय नारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, विपिन इण्टरप्राइजेज, इलाहाबाद 2010
18. डॉ० विजय नारायण मणि त्रिपाठी : विधिशास्त्र एवं विधिक सिद्धान्त, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद
19. डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : भाषाई अस्मिता और हिन्दी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण
20. डॉ० खगेन्द्र ठाकुर : आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद, स्वराज प्रकाशन दिल्ली, 2005
21. एमिल बर्न्स : मार्क्सवाद क्या है, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, सं० बारहवां, 1996
22. एमिल दुर्खीम : आत्महत्या, एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (अनु० रामकिशन गुप्ता), ग्रंथ शिल्पी प्रा०लि०, दिल्ली, 2008
23. हैरी एस० ट्रूमैन : 20 जनवरी 1949 का उद्घाटन भाषण
24. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत में समाज (ESO-02) सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, जुगनू ऑफसेट दिल्ली, 1990

25. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत : लोकतंत्र और विकास, (एम०पी०एस०-००३), सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, प्रिन्ट पैक, दिल्ली
26. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) : भारत और धर्म, (ESO-05) सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, सोना प्रिन्टर प्रा०लि० नई दिल्ली
27. आई०जी०एन०ओ०यू० (IGNOU) समाज का अध्ययन, (ESO-003) मानविकी विद्यापीठ, यूनिवर्सिटी प्रेस, नोएडा
28. कार्ल मार्क्स : पूँजी खण्ड, प्रगति प्रकाशन मास्को
29. कार्ल मार्क्स, फ्रे० एंगेल्स संकलित रचनाएँ, खण्ड-I, भाग-1, (अनु० सुरेन्द्र कुमार), कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, प्रगति प्रकाशन मास्को
30. कार्ल मार्क्स : जे० वेडेमेयर के नाम मार्क्स का पत्र, 5 मार्च 1852
31. कार्ल मार्क्स, एंगेल्स : साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन मास्को, सं० 1981
32. कार्ल मार्क्स : 1844 की अर्थशास्त्री तथा दर्शन सम्बन्धी पाण्डुलिपियाँ
33. कमलनयन कावरा : भूमण्डलीकरण : विचार नीतियाँ और विकल्प, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली।
34. लेनिन संकलित रचनाएँ, खण्ड-1, प्रगति प्रकाशन मास्को
35. मेराज अहमद : विकास का समाजशास्त्र, विश्व प्रकाशन (वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग) नई दिल्ली, 1994
36. मुकेश कुमार/सुधांशु शेखर : भूमण्डलीकरण नीति और नियति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म०प्र०), संस्करण 2009
37. पूरन चंद्र जोशी : परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि० नई दिल्ली, प्रथम संस्करण

38. प्रो० एम०एन० श्रीनिवास : आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, छठा सं० 1991
39. प्रभा खेतान : बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ, भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
40. राधाकुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता
41. रैल्फ फॉक्स : उपन्यास और लोक जीवन (अनु० नरोत्तम नागर), मेधा बुक्स दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
42. राम आहूजा : सामाजिक समस्याएँ, रावत पब्लिकेशन्स जयपुर 1994
43. श्री रामानुजभाष्य : श्रीमद् भगवद्गीता (अनु० श्री हरिकृष्ण दास गोयन्द का), अध्याय-4, गीता प्रैस गोरखपुर
44. श्यामाचरण दुबे : विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली सं० द्वितीय, 2000
45. श्यामाचरण दुबे : संक्रमण की पीड़ा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1994
46. सच्चिदानन्द सिन्हा : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, भूमिका, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं० 2007
47. टॉम बाटोमर : मार्क्सवादी समाजशास्त्र, ग्रंथ शिल्पी प्रा०लि० दिल्ली
48. विजय कुमार अग्रवाल : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामन्ती जीवन, सामयिक प्रकाशन दिल्ली, सं० 1990

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Ajit Roy : Planning in India, National Publisher's Calcutta 1956
2. Dr. Radha Krishnan : Occasional Speeches and writings, combined Edition (1952-59) Vol. I
3. Emile Durkheim : Suicide : A study in Sociology, Trans. By John A. Spaulding and Geoarge Simpson, free Press New York 1951
4. E. Blunt : Social Service in India. His Majesty's Stationery office Zondan 1946
5. G.S. Ghurye : Class and Occupation, Popular book Depot Bombay 1961
6. Government of India : Planning Commission, Ninth Five Year Plan, Vol. I, New Delhi
7. Government of India : Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol. I, Box-1.1, New Delhi
8. Government of India : Planning Commission, Eleventh Five Year Plan, Vol. I, New Delhi
9. Government of India : Handbook of Industrial Policy and Statistics 1996 Exhibit on 'Industrial Policy Resolution (30th April 1956), New Delhi
10. Jawahar lal Nehru : Discovery of India
11. K. Marx: Selected works, Eng. Ed. Pragati Publication, Mascow 1998, Vol.I

12. Michel Covin and Robert w. Sention: The Invention of Development in power of Development, edited by J. Cruse, Routledge London.
13. N.L. Gupta (Edited) : Nehru on Communalism, December, 1965
14. N.K. Dutt : Origin and Growth of Caste in India, the book Company Calcutta, Vol. I
15. Prof. Yogendra Singh : Modernization of Indian Tradition, Rawat Publications Jaipur
16. Prof. Yogendra Singh : Social Stratification and change in India, Rawat Publications Jaipur
17. Prof. Yogendra Singh : Development In India, Continuties and Cantradictions, in K.S. Shukla (Ed.) Other Side of Development. Saj Publications New Delhi
18. United Nations Document, 1990

पत्र-पत्रिकाएं

1. ब्रह्मदेव शर्मा : नया प्रतीक (औद्योगिक परिसर में आदिवासी) सितम्बर, 1977
2. सुधीश पचौरी : कथा भाषा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. प्रो० एस०एस० कुशवाहा : भूमण्डलीकरण का नीतिशास्त्र, आलेख, दार्शनिक त्रैमासिक, (सं०-डॉ० रजनीश कुमार शुक्ल) जुलाई-सितम्बर, 2008, सरूप एण्ड संस, मेरठ

कोश ग्रन्थ

1. Encyclopeadia of Religion and Ethics, Vol II
2. संपा० धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी